ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रंथमाला—हिन्दी ग्रन्थांक ८

मेरे बापू

'तन्मय' बुखारिया



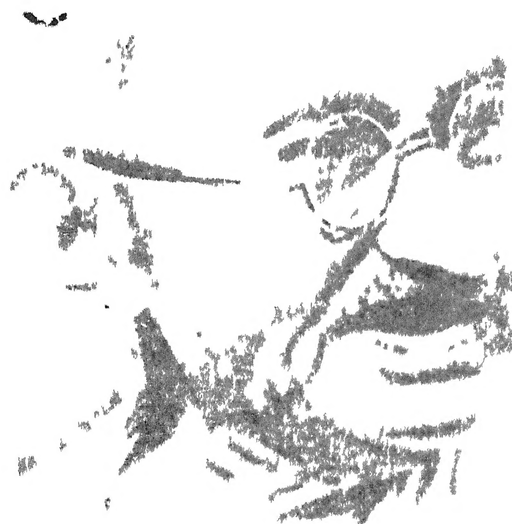
भारतीय ज्ञानपीठ काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रंथमाला—सम्पादक और नियामक
लक्ष्मीचंद्र जैन एम० ए०, डालमियानगर

प्रथम संस्करण	जनवरी १६५१	मूल्य
तीन हजार	वीर नि० सं० २४७७	ढाई रुपये

प्रकाशक
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी,
दुर्गाकुंड रोड, बनारस ४

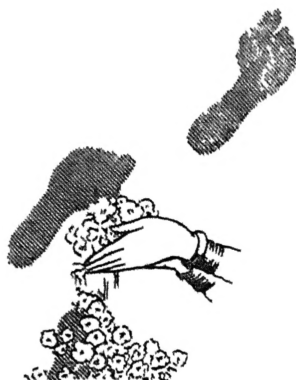
मुद्रक
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद



पर-हित-हित निज निजतामें मुँह मोड़ गए जो,
पंच तत्त्व-तन जीर्ण वस्त्र-सा छोड़ गए जो,
वे शहीद हैं धन्य, धन्य उनकी बलि-क्षमता !
उनके पाँव पखारेगी युग-युग तक ममता !!

× × ×

वे धरतीके अमर देवता नर-कायामें,
बाँध न पाया जग उनको अपनी मायामें;
उनके रक्तिम पद-चिन्होंका एक-एक कण;
चिर भावी डगमग पथिकों के प्रति नित नव प्रण,
उनकी पावन पुण्यस्मृति युग-दीप-शिखा-सी,
अथवा सस्मित शरद्-ज्योत्सनामयी निशा-सी,
देगी प्रजव प्रकाश सदा जन-जन-तन-मनको,
अभय सीख कर तिमिर-रूप शोषणके व्रणको !



दो शब्द

श्री हुकमचन्द बुखारिया 'तन्मय' हिन्दीके नवोदित तरुण कवियोंमें अपना विशेष गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। उनकी दो ओजमयी कविता पुस्तकें 'आहुति' और 'पाकिस्तान' साहित्य-जगत्‌में समादृत हो चुकी हैं। इन कृतियोंको सबसे अधिक आदर दिया है कविसम्मेलनोंमें श्रोतारूपसे भाग लेनेवाली जनताने जो अब बुखरियासे इतनी अधिक परिचित हो गई है कि उन्हें मंचपर आते देखकर ही हर्षातिरेकसे तालियाँ बजा उठती है और जब घंटाभरतक कविता सुना चुकनेके बाद बुखारिया माफ़ी चाहते हैं तो उनकी बातको पहलेसे भी अधिक उत्सुक तालियों की गड़गड़ाहटमें डुबाकर अनसुना कर देती है। इन कविसम्मेलनोंने सिद्ध कर दिया हैं कि बुखारिया जनताके कवि हैं, और बहुत सफल कवि हैं।

बापूके महा-प्रयाणपर बीसियों पुस्तकें लिखी गईं और हज़ारों लिखी जाएँगी; पर बापू जिस 'जनता'के प्राण थे उसके आर्त्तरोदनको, उसके आँसुओं, सिसकियों और सुबकियोंको जनताका कवि ही साकार कर सकता है और वही अपने हृदयकी अश्रु-सिक्त आह-तप्त धरतीसे सच्ची अर्चनाका सहज फूल उगा सकता है।

हमें याद पड़ता है, हिन्दीके एक प्रगतिशील मासिक पत्रने गांधीजीके निधन पर लिखी गई उस समयतक प्रकाशित रचनाओंकी आलोचना करते हुए लिखा था—"यह साहित्य परिमाणमें तो बहुत है लेकिन अधिकांशतः है काफ़ी हीन कोटिका। उसमें अनुभूतिकी गहराई नहीं। जब गांधीजीकी हत्या हुई तो कविके मनमें यह भाव जगा कि उसकी वन्द्य मूर्त्ति खंडित हो गई; यह नहीं कि उसके कलेजेका कोई टुकड़ा किसीने काटकर फेंक दिया"....आदि। इस आलोचनासे हम पूरी तरह सहमत नहीं; पर यह हम भी मानते हैं कि इतिहास जिस व्यथा और दुःखसे कातर होकर तिलमिला उठा है उसकी गहराईके अनुरूप अकृत्रिम कवि-वाणीके लिए हमारे प्राण तरसते रहे और आज भी तरसते हैं। यह साध कभी पूरी होगी।

तबतक, बुखारियाजीकी 'मेरे बापू' राष्ट्र-भारतीका एक अवलम्ब है। 'मेरे बापू'में जहाँ उपासनाकी ऊँचाई है, वहाँ वेदनाकी गहराई भी कम नहीं है। ओज, प्रवाह और प्रसाद बुखारियाजीकी कविताके विशेष गुण हैं, जो इस रचनामें भी प्रस्फुटित हुए हैं। उनकी कल्पना कभी-कभी ऐसी उड़ान भरती है और अभिव्यक्ति

इतनी मौलिक होती है कि पाठक बार-बार विस्मित और पुलकित हो उठता है।

बुखारियाजी यदि पूरी पुस्तक न भी लिखते और इसमें की दो-चार कविताएँ ही आज हमारे हाथमें होतीं तो उतने भरसे ही हिन्दी-साहित्य कविके प्रति उपकृत हो जाता। 'मेरे बापू'में कोई-कोई भाव, कल्पना और उक्ति इतनी सप्राण और सफल है कि बापूका समूचा व्यक्तित्व वेदना और श्रद्धाके उस एक आंसूमें ही साकार जगमगा उठता है। ऐसी एक पंक्ति लिखकर ही कवि धन्य हो सकता है :—

बापू, तुम जीवनके कवि थे..................
मुस्कानों ही मुस्कानोंमें तुमने इतिहास बदल डाला.....
तुम प्रश्न-चिन्ह बन गए कभी, बन गए कभी सुलझे विराम
बापू, तुम जीवनके कवि थे, हम कवियोंका तुमको प्रणाम !

हम बुखारियाजीके प्रति कृतज्ञ हैं कि 'मेरे बापू'के प्रकाशन द्वारा उन्होंने ज्ञानपीठको उस महामानवके चरणोंमें श्रद्धांजलि अर्पण करनेका अवसर दिया—

डालमियानगर
१ जनवरी १९५१

लक्ष्मीचन्द्र जैन
सम्पादक
लोकोदय ग्रन्थमाला

मेरी बात

'आहुति', 'पाकिस्तान' और 'प्रह्लाद' के बाद मेरी यह चौथी काव्य-पुस्तक है, जो प्रकाश में आ रही है। आज मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि काव्य के क्षेत्र में अभी तक मैं प्रयोग के दौर में था और प्रस्तुत संग्रह में, मानो, सहसा ही गन्तव्य दिशा की ओर उन्मुख, चौराहे पर आ खड़ा हुआ हूँ। मेरा तात्पर्य कल्पनामयी व्यंजना और लक्षणाशक्तियों के सम्यक् प्रयोग तथा भाषा की प्रांजलता से है। कविता को मैं निराकार प्राणों की अभिव्यंजना का माध्यम मानता हूँ। मेरा विश्वास है कि सब के मन-प्राणों में कुछ होता है, जो बाहर आना चाहता है। अपने भीतर की इस उमड़-घुमड़ को जो व्यक्त कर लेते हैं, वे भार-मुक्त हो, न केवल एक विशेष मनः तुष्टि के अधिकारी हो जाते हैं, बल्कि अनायास ही कलाकार की संज्ञा भी प्राप्त कर लेते हैं। इसके विपरीत जो अन्तः में घुँटते तो रहते हैं किन्तु व्यंजनाभाव के कारण भीतर के भराव को किसी कला के माध्यम से बाहर उँडेल नहीं पाते, वे मनःतुष्टि और कलाकार-पद की प्राप्ति—इन दो लाभों से तो वंचित रहते ही हैं, साथ ही कविवर 'बच्चन'जी के शब्दोंमें इस दयनीय स्थिति को भी प्राप्त होने से नहीं बच पाते—

गा सकते हैं कुछ गीतों को,
कुछ गीतों को लिख सकते हैं;
पर जो था दोनों से वंचित
जिया किस तरह और मर गया!
हृदय सोच यह बात भर गया!!

किन्तु इन्हीं कोटि-कोटि दयनीय मूक प्राणों में से जब दो-चार अपने भीतर के बोझ को यदा-कदा एक विचित्र प्रकार के माध्यम-प्रश्रय से गिरा फेंकते हैं, तब व्यंजना-समर्थ इने-गिने कवि-कलाकारों को भी दाँतों तले उँगली दबा कर रह जाना पड़ता है और मन ही मन यह मान लेने को विवश हो जाना पड़ता है कि वही

एकमात्र भावुक नहीं; और भी हैं और शायद उनसे अधिक। बापू के आकस्मिक और घटनापूर्ण निधन-समाचार को सुन जो अपनी भावनाओं को शरीर-सीमा में बाँध कर नहीं रख सके और फलतः जिनके शरीर को विनष्ट हो मार्ग-मुक्त होना ही पड़ा, वे इस धरती के कितने बड़े अव्यक्त-अज्ञात कलाकार थे—यह विचारणीय है। इसी प्रकार प्रणयातृप्ति से क्षुब्ध हो जो आत्मघात कर लेते हैं, उनकी भावुकता और मौन कवित्व का ठीक-ठीक मूल्यांकन करना भी हमारे लिए अभी शेष है।

बापू का देह-विसर्जन सुन जो इतने विचलित और विह्वल हो उठे कि सहसा उनकी हृद्‌गति बन्द हो गई अथवा किसी अन्य निमित्त से जो तत्काल मृत्यु-प्राप्त हो गए, उन मूक भक्त-साधकों के प्रकाश में, बापू के प्रति जब अपनी हृदयस्थ श्रद्धा का विश्लेषण करता हूँ तो लज्जित हुए बिना नहीं रह पाता और भाग कर उर्दू के किसी शायर की इन पंक्तियों में ही शरण लेना पड़ती है—

कहना कि कोहकन से मरना कमाल क्या है,
रो-रो के हिज्रे यार में जीना कमाल है;

सो कवि होते हुए भी जीवित रह जाने की जो लज्जा और तज्जन्य रोदन है, वही इस संग्रह की रचनाओं में शब्द-बद्ध है।

सामान्यतया किसी की मृत्यु कोई इतनी अनहोनी बात नहीं कि उसको लेकर चेतना सजल हो-ही उठे; और फिर अध्यात्म-विश्वासी भारतवर्ष के लिए तो उसका महत्त्व सदैव से वस्त्र-परिवर्त्तन-मात्र से अधिक कुछ रहा ही नहीं है। फिर भी बापू का अभाव आज भी जो भुलाए नहीं भूलता, इसका कारण समझने के लिए हमें अपनी आजतक की संस्कृति की ओर झाँकना होगा; क्योंकि आखिर यह बात नहीं कि गाँधी और गोडसे की भाँति धर्म और अधर्म के प्रतिनिधि-प्रतीक व्यक्तित्व हमारे देश ने कभी देखे ही नहीं हों। राम, रावण, कृष्ण और कंस हमारे देश के सर्वाधिक बहु-विदित चरित्र रहे हैं। सच तो यह कि हमारी भारतीयता को इतना अधिक आघाताभास जो हुआ है, उसका मूल कारण बापू का निधन नहीं, बल्कि हमारा अपना सांस्कृतिक पतन ही है। ऐसा लगता है, मानो, बापू की दुर्घटना ने हमारे गौरवपूर्ण सांस्कृतिक इतिहास को जड़ से ही हिला दिया हो।

हमारी भारतीय आँखें राम के द्वारा रावण और कृष्ण के द्वारा कंस का वध देखने की अभ्यस्त रही हैं। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि यदि आत्मा की अमरता के सिद्धांत और 'देर है, अंधेर नहीं'—लोकोक्ति की आश्वासन-शरण प्राप्त न होती तो ३० जनवरी १९४८ के बाद बहुत-से भावुक नास्तिक हुए बिना न मानते।

'मेरे बापू' में मेरी स्फुट रचनाएं संकलित हैं, जो विभिन्न अवसरों पर लिखी गई हैं। लगभग सभी के रचना-काल में जो दो प्रमुख भाव मेरे मन में निरंतर रहे हैं और जिन्होंने मेरे कवि प्राणों को सब से अधिक मथा है, वे ये कि एक तो अपनी सांस्कृतिक परम्परा के विपरीत हमारे ही एक राष्ट्रीय सहोदर ने राष्ट्र-पिता के रक्त से अपने हाथ रँगे और दूसरा कि कल्याणी प्रकृति के प्रकृत न्याय-शासन में यह कैसे सम्भव हो सका कि बापू का अमृत-व्यक्तित्व गोडसे के हीन विष-तत्त्वों से पराजित होकर धराशायी हुआ। यद्यपि यह सही है कि बापू का मरण उनके जड़ शरीर की शिथिलता का ही सूचक था और अमर आत्मा का उससे कुछ भी नहीं बिगड़ा, बल्कि वह तो और भी निखर गई; फिर भी अध्यात्मवाद अथवा दर्शन का यह तर्क मेरी कवि-बुद्धि को सान्त्वना नहीं पहुँचा पाया और परिणामतः यह संग्रह आपके सामने है।

'जा के मन भावना जैसी, प्रभु-मूरत देखी तिन तैसी', राम के प्रति लिखी गई तुलसीदासजी की यह चौपाई, राम के अनन्योपासक बापू पर भी घटित होती है। सामान्य व्यक्तियों के परिचय के लिए जाना जाता है कि वे क्या हैं और किसके हैं; किन्तु बापू के सम्बन्ध में जब हम सोचते हैं तो पूछना पड़ता है कि वे क्या नहीं थे; कौन-सी हित-भावना है, जो उनमें नहीं थी; कौन है, जो उनकी समवेदना से वंचित रहा हो; हिन्दू समझते हैं, वे हमारे थे; मुसलमान का विचार है कि इस-लाम की शिक्षा को यदि किसी ने हृदयंगम किया था तो गाँधीजी ने; ईसाई का मत है कि वे ईसा के पदानुयायी थे और बुद्ध तथा जैन-मतावलम्बी तो उनको अपनी मान्यताओं का सच्चा प्रचारक ही मानते हैं। सामाजिकता की दृष्टि से देखें तो अबाल-वृद्ध सभी का सम्मान और स्नेह उन्हें मिलता रहा। युग-नारी तो उनको अपना मुक्ति-दूत ही मानती थी। अस्पृश्यता निवारण के लिए किए गए उनके प्रयत्न हरिजनों को उनका चिर कृतज्ञ बनाए रखेंगे। कुसंस्कारों और कुरूढ़ियों

का विरोध तो, मानो, उनका सहज स्वभाव ही हो गया था। राजनीतिक क्षेत्र में स्वतंत्रता की जो देन उन्होंने हमें दी है, उसके लिए गोयलीयजी के शब्दों में हम तो क्या हमारा भविष्य भी उनका चिरऋणी रहेगा। संसार का कोई देश नहीं, जीवन का कोई क्षेत्र नहीं—बापू की ममता ने जहाँ प्रवेश न किया हो। संक्षेप में, उनकी नीति थी—

तुलसी या संसार में सब से मिलिए धाय।
ना जाने किस वेष में नारायण मिल जाय॥

मेरा तो निश्चित मत है कि विरोधाभासपूर्ण व्यक्तित्व के बिना कोई भी महान् या पूर्ण पुरुष नहीं हो सकता और बापू भी इसके अपवाद नहीं थे। गाँधी-वाद यदि समन्वयवाद नहीं तो कुछ भी नहीं है। क्रांति और शान्ति, आग और पराग, राग और विराग, उनके मुट्ठीभर हाड़ों में इस प्रकार घुल-मिल गए थे, जैसे दोपहर का सूर्य और पूर्णमासी का चन्द्र—दोनों एकाकार हो जाएं। कठोरता और सुकुमारता, काठिन्य और सारल्य, प्रश्न और उत्तर का जैसा सम्मिलन उनके प्राणों में साकार हुआ था, वैसा कहीं और कभी भी दर्शनीय नहीं। महावीर के बाद अनेकान्त की इतनी बड़ी साधना, सम्भवतया, उनसे ही साध्य हो सकी थी। जार्ज बर्नार्ड शा के शब्द ही उनके विशाल व्यक्तित्व को परिभाषा-बद्ध करने की सामर्थ्य रख सकते हैं। अन्यथा मेरे विचार से तो भाषा पराजिता है—

He was not a man, he was a phenomenon.

गीता के कर्मयोग के तो मानो वे सशरीर स्वरूप ही थे। सन् '४२ के आन्दोलन में स्वातंत्र्य-युद्ध के सेनापति बन मर मिटने के लिए प्रेरित करना और साम्प्रदायिक उपद्रवों के समय बिहार तथा नोआखाली की नंगे पाँव यात्रा कर एक-एक की पीर पूछते फिरना—दोनों ही उनके लिए सहज-समान कर्म थे। फूल और शूल—दोनों ही उनके लिए विधाता की ओर से प्रदत्त शुभ दान थे। उनकी इसी अनासक्ति और तटस्थ वृत्तिका प्रभाव है कि हमें युधिष्ठिर और अर्जुन—दोनों के दर्शन एक साथ ही उनमें होते हैं। सत्य तो यह है कि उनके व्यक्तित्व को ठीक-ठीक मापने के लिए हमें एक नहीं अनेक विभिन्न व्यक्तियों को समझना

पड़ेगा। सुविधा के लिए हम समझ लें कि राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद—सबका वरद हस्त जिस एक व्यक्ति पर हो, वही गाँधी था।

वे कलाकार भी थे, किन्तु क़ाग़ज और क़लम या तूलिका और पट के नही, बल्कि समूचे जीवन के। स्वतंत्रता दिला देना ही उनका सबसे बड़ा उपकार हमारे प्रति नहीं था, बल्कि सच कहा जाय तो स्वतंत्रता प्राप्ति कोई इतनी दूरस्थ मंज़िल नहीं थी कि गाँधी जी ही हमें वहाँ तक पहुँचा सकते। डा० भगवानदास जी के शब्दों में वास्तविकता तो यह है कि परिवर्त्तन के निश्चित-क्रम-नियम से स्वतंत्रता तो, देर या सबेर, कभी न कभी हमें मिलने को ही थी। सबसे बड़ी बात कि जिसको सामने रख हमें ही नहीं बल्कि सारे संसार को उनका आभारी होना है उनकी 'जीने की कला' की देन है। प्रकृति ने हमको दो आँखें दी हैं, सो क्यों? माथे पर यदि बीचोंबीच एक होती, तब भी तो काम चल सकता था। दो आँखों के अस्तित्व का अर्थ ही यह है कि प्रकृति चाहती है कि हम तत्काल (simultaneous) दो दृष्टिकोणों से जग-जीवन को समझें—यही सम्यक् दर्शन है और यही समन्वयवाद या अनेकान्तवाद। जीवन-कला के रहस्य का मूल भी इसी में है।

'मेरे बापू' की लगभग समस्त रचनाओं में मेरा आग्रह है कि लोग मानें कि स्वातंत्र्य-संग्राम के संचालक राजनीतिज्ञ 'गांधी' की अपेक्षा मनुष्य 'गाँधी' कहीं अधिक महान् और श्रद्धेय था। कहते हैं कि कवि निर्माता होता है। गाँधी जी ने जीवन का जो बहुर्मुखी निर्माण किया, उससे सिद्ध है कि उनके भीतर कितना विराट् 'कवि' और 'कलाकार' निहित था। बापू के इसी रूप के प्रति मेरी समस्त पूजा और प्रार्थना इस संग्रह में समर्पित है। राजनीति को तो मैं जड़त्व और बुद्धि की बेटी मानता हूँ, आत्मा उसमें कहाँ? कला या साहित्य ही चेतन और श्रद्धा का वह सपूत है, जो अमृत-स्नात है। अमृत का कोई शत्रु नहीं होता—यहाँ तक कि विष भी नहीं। गाँधी और जवाहरलाल—दो ही राजनीतिज्ञ व्यक्ति ऐसे थे, जो प्रकाशस्तम्भ की भाँति साम्प्रदायिक आँधी और तूफान के भयावह प्रवाह में भी सर्वथा अविचलित रहे, जब कि छोटे और बड़े अन्य सभी नेता सिद्धान्त-च्युत हो जड़-शिथिल वृक्षों की भाँति उखड़ गए। गांधी और

जवाहरलाल को यह प्रेरणा किसी राजनीतिक गुट या दल की दया से नहीं मिली थी, बल्कि उनके अपने भीतर के कवि या जीवन के कलाकार का ही यह तक़ाज़ा था। व्यक्तित्वों के विश्लेषण-निर्णय के लिए हमें इस दृष्टिकोण को अपनानेकी आवश्यकता है कि जो जितना अधिक उदार है, भीतर वह उतना ही बड़ा कलाकार है और जो जितना अधिक अनुदार है, वह उतना ही अधिक राजनीति-मूलक है। मेरी यह बात सुन बहुतों को हँसी आ सकती है और वे प्रश्न करने को विकल हो सकते हैं कि यदि ऐसा है तो क्या कारण है कि आज टैगोर या शरतचन्द्र, पंत या निरालाकी अपेक्षा जनता अमुक मिनिस्टर या अमुक सभापति या मंत्री को अधिक जानती-मानती है? क्या कारण है कि किसी नेता के मरने पर तो पत्रों में कॉलम के कॉलम रँगे जाते हैं, देश-व्यापिनी हड़तालें और शोक-सभाएं की जाती हैं और 'प्रसाद' अथवा प्रेमचंद के मरने पर कहा जाता है कि 'ऊ जो तमाखू बेचत रही, मर गवा' या 'किसी स्कूल का मास्टरवा मर गवा'? क्या कारण है कि निरालाजी की तरह युग-प्रवर्त्तक कलाकार भूखों मरते रहते हैं और 'जूही की कली' ऐसी रचना करने के लिए विवश होते रहते हैं जबकि पार्लियामेंट के अमुक मेंबर बंगलों पर बंगले ख़रीदते जाते हैं। इन प्रश्नोंके उत्तरमें मैं क्या कहूँ——सिवाय इसके कि देश का दुर्भाग्य! वर्षों तक निरंतर पराधीन रहने के कारण हमारे देश से यह दूषित और दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति अविच्छिन्न रूप से संलग्न हो गई प्रतीत होती है कि यहां राजनीति की रूपसी वारांगना की तुलना में कला और साहित्य की साध्वी सती को दीन-हीन जीवन यापन करना पड़ता है। साहित्यिकों के दारिद्र्य को चिर और अवश सत्य मान लेने का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है कि आज यह लोकोक्ति ही बन गई है कि यह सरस्वती और लक्ष्मी में जन्म जात-बैर होता है; और हमारे कलाकार भी इस जनोक्ति को दुहरा कर मानो, गौरवान्वित हो लेते हैं। मानो, दुनिया से कह लेते हैं, कि उँह घूर-घूर-कर क्या देखते हो मेरे दारिद्र्य को? युग निर्माता, सरस्वतीपुत्र हूँ मैं, इसीलिए यह कंगाली है; नहीं तो ....। मैं कला नहीं बेचता। कला स्वांत:सुखाय होती है और बेची नहीं जाती।

पर मैं विषयान्तर हो गया और इस बात को यहीं, इतना और जोड़ कर

समाप्त करता हूँ कि कलाकार के कथित मिथ्या भ्रम-संश्लिष्ट अहंकार पर दुनिया और भी ताव रखती रहती है तथा अपनी शोषण-प्यास बुझाती है। और साहित्यिक हैं कि उन्हें पारस्परिक तू-तू, मैं-मैं से ही अवकाश नहीं कि अपनी शक्ति का समुचित उपयोग करें। मैं कह रहा था कि 'बापू' के जिस स्वरूप के प्रति मेरे मन में कृतज्ञता और आस्था-भाव रहा है वह उनका कलाकार रूप ही था। व्यक्तित्व-विश्लेषण के लिए हमें उपर्युक्त मौलिक दृष्टिकोण को ग्रहण करने की आवश्यकता है। केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, धार्मिक एवं अन्य क्षेत्रीय व्यक्तियों के प्रति भी यह दृष्टि-नीति भली भाँति घटित है। भीतर की कवित्व-जन्य भावुकता छलक-छलक कर जब किनारों तक आ-आ गई है तभी हमारे महापुरुष सच्चे पैग़म्बर हो पाए हैं।

जैसा कि मैंने ऊपर निवेदन किया, इस संग्रह की कोई रचना कभी लिखी गई और कोई कभी। पुस्तक में उनको काल-क्रमानुसार देने का कोई ध्यान नहीं रखा गया है; अनायास ही जो जहाँ आ गई, आ गई। साहित्य-पारखी किस दृष्टि से इन रचनाओं को देखेंगे, यह मैं न तो कह ही सकता हूँ और न कहना ही चाहता हूँ; क्योंकि आखिर कसौटी के उद्देश्य से तो कभी कोई कृति होती नहीं और फिर यह तो इस ध्येय से सर्वथा ही दूर रही है। इस संग्रह की 'मेरे बापू' शीर्षक कविता पर, जिसके नाम पर कि पुस्तक का नाम भी आधारित है, मेरी सबसे अधिक ममता है—शायद इसलिए कि उसको लिखकर मैं बापू के अभाव के अपने अनमनेपन को सबसे अधिक विस्मृत-सुधि हुआ था। कुछ ऐसी रचनाएं भी इसमें सम्मिलित कर दी गई हैं, जो स्वतंत्रता-दिवस आदि असवरों पर लिखी गई थीं, इसलिए कि बापू के निर्वाण के बाद ऐसा कोई भी राष्ट्रीय उत्सव नहीं होता कि जब हमें उनकी याद न आती हो और हमारे नेत्र सजल न हो उठते हों। 'निज कवित्त केहि लागि न नीका' के अनुसार मुझे अपनी वे रचनाएं भी कम प्रिय नहीं हैं।

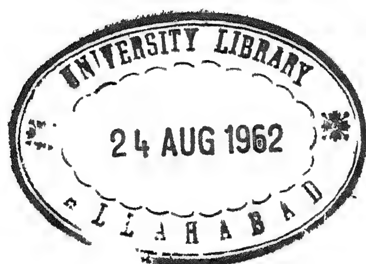
अंत में, मुद्रण-कालीन प्रूफ़-रीडिंग आदि परिश्रम के लिए मैं अपने स्नेह-भाजन श्री लक्ष्मीनारायण तिवारी तथा श्री परशुराम शुक्ल 'विरही' का सधन्यवाद उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ।

ललितपुर
३० **जनवरी '५१**

—'तन्मय' बुखारिया

क्रम-सूची

मेरे बापू



२

जग-जलधि के हे सबल पतवार !

जग-जलधि के, हे प्रबल पतवार,
तुम अधर के प्रति सदा आधार !

१

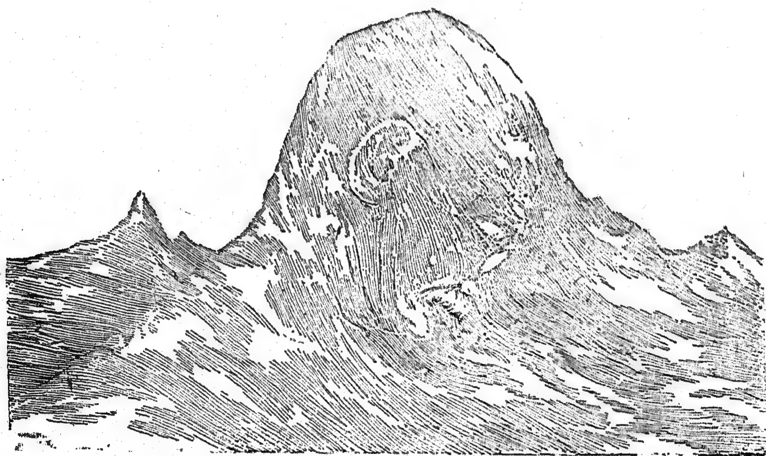
संकुचित उपमा पराजित कोष,
कल्पना कोई नहीं निर्दोष;
क्या कहे फिर कवि तुम्हें, हे दिव्य,
तुम सतन-साकार सुख-संतोष;
देवता की जय, दनुज की हार !
जग-जलधि के हे सबल पतवार !

२

तुम धरा के ध्रुव धवल नक्षत्र,
पथ-प्रकाशक आप्रलय सर्वत्र;
जो नहीं धूमिल कभी या भग्न,
सृष्टि के इतिहास के वह पत्र;
तुम मनुजता के भवन के द्वार,
जग-जलधि के, हे सबल पतवार !

३

फूल की मुस्कान, खग के गान,
नीरदों के नीर, भू को दान;
तुम हिमालय के अथक हिम-हास,
सिन्धु-गर्जन में सतत गुरु-प्राण;
व्यक्ति-जीवन के अमिट अधिकार,
तुम अधर के प्रति सदा आधार !
जग-जलधि के, हे सबल पतवार !
तुम मनुजता के भवन के द्वार !
देवता की जय, दनुज की हार !



बापू ! तुम जीवन के कवि थे....

१

तुमने प्राणों की भाषा में वे गीत गढ़े मानवता के,
सुन जिन्हें 'वाह' कह उठने को खुल पड़े कंठ दानवता के;
तुमने स्वाचरण-सुवीणा से वह राग नया प्रस्फुटित किया,
जिसने जग की निर्ममता के ओष्ठद्वय को सम्पुटित किया;
तुम पर लिख-लिख कर होती है हम कवियों की प्रतिभा ललाम,
बापू ! तुम जीवन के कवि थे, हम कवियों का तुमको प्रणाम !

२

इतिहास पड़ा था बद्ध-रुद्ध, तुमने उसमें नवगति भर दी,
विस्मृता-स्वगुण मानवता में नवमति भर दी, सन्मति भर दी;
युग शिथिल पड़ा था थकित-स्थिर, तुमने उसको झकझोर दिया,
सभ्यता-संस्कृति की काली रातों को नूतन भोर दिया !
तुम शीतल शशि-ज्योत्सना मधुर, तुम दिनकर के संतप्त घाम,
बापू ! तुम जीवन के कवि थे, हम कवियों का तुमको प्रणाम !

३

गाम्भीर्य ले लिया सागर से, सरिता की सरल रवानी ली,
निष्काम-ध्येय सन्निर्भर से भावना सदा बलिदानी ली;
भावुक सुमनों से सीख लिया तुमने स्वइष्ट पर बलि होना,
गीता से ज्ञात किया तुमने 'पर' में 'निज' सत्ता को खोना;
'सोऽहं', 'अनलहक़' 'नेति-नेति' के गायक, हे चिर सफल नाम,
बापू, तुम जीवन के कवि थे, हम कवियों का तुमको प्रणाम !

४

तुमने जीवन का माप-दंड बदला, जीवन-धारा बदली,
स्वातंत्र्य-स्वर्ग में भारत की शोषित-शासित कारा बदली;
दर्शन का दृष्टिकोण बदला, मानो, विश्वास बदल डाला,
मुस्कानों ही मुस्कानों में तुमने इतिहास बदल डाला;
तुम प्रश्न-चिह्न बन गए कभी, बन गए कभी सुलझे विराम,
बापू! तुम जीवन के कवि थे, हम कवियों का तुमको प्रणाम !

५

तुम वर्त्तमान के गौरव थे, भावी के आश्रयदाता थे,
संसार-शुभम्-अभिलाषी, पर भारत के भाग्य-विधाता थे;
तुम जियो सहस्रों वर्ष कि सत्यम्, शिवम् स्वयम् सप्राण रहें,
तुम पर अवलंबित सदा-गेय हम कवियों के भी गान रहें;
तुम मूर्त्तिमान् साहित्य, संस्कृति, कला, कला के पुण्य-धाम,
बापू ! तुम जीवन के कवि थे, हम कवियों का तुमको प्रणाम !



आज धरा का चिर-सुहाग-सिन्दूर लुट गया !

कंठ रुद्ध, निस्स्वर मुख-कौशल,
हृदय ! स्वयम् दो बोल बनो तुम;
युग-विषाद सीमित कर निज में,
हे शरीर ! भूडोल बनो तुम !

× × ×

मूर्त्तिमान् वह काव्य, अरे वह तो अनन्त में
बिखर गया, रे, मुखर राग दिक्-दिक्-दिगंतमें,
अब भाषा की देह शेष, उसको आँखों में
ले समेट, मृत सुमन सुरभि जैसे पाँखों में !
आज एक युग आहत्, मूर्च्छित जीवन-दर्शन,
हुआ संस्कृति के प्राणों पर गोली-वर्षण !

आज प्रकाशस्तम्भ भग्न, तमतोम विजेता,
कलियुग से, आश्चर्य, पराजित जीवित त्रेता!
एक शिला से हार गई सागर की हलचल,
एक बाल से बद्ध विवश विधि-विधि निस्सम्बल!
क्षुद्र लौह ने विगत किया सम्प्रति साँसों को,
एक निमिष ने सोख लिया वर्षों-मासों को!

× × ×

व्यक्ति-यंत्र ही, अरे, न होगा कभी मनुज वह,
काष्ठ-खंड ही, कभी न होगी स्पंदित भुज वह;
जो न हिली-सिहरी, लज्जित, बापू पर उठकर,
जो कि भूमि पर गिर न पड़ी कंधे से हट कर;
पागल के अतिरिक्त न उसकी कोई संज्ञा,
वीच धार में डुबो सका जो अपनी नैया;
महाराष्ट्र के मस्तक पर टीका कलंक का,
वह कुपूत था, हाय, इसी निज मातृ-अंक का;
मेरा ही अभिशाप, पाप, रे, वह मेरा ही,
मेरे बापू! सत्य, कृत्य भी वह मेरा ही;
चिर कलंक का भार करेंगे सदा वहन हम,
एक अधम का कर्म रहेंगे सभी निधन हम!
बापू! हम सब कोटि-कोटि लज्जित हैं उस पर,
अमर बुद्ध! देना न शाप हमको, हम नश्वर!

× × ×

ईसा को था कुछ अभाव अति दूर स्वर्ग में,
बुद्ध, मुहम्मद, वीर—चार के अलग वर्ग में
मात्र एक था कम, कि हुए तुम सहसा प्रस्थित,
और पंच परमेश्वर अब हो गए व्यवस्थित;
स्वर्ग मनाए हर्ष, धरा तो पर सूनी ही,
प्रकृति–पुरुष की व्यथा हुई तो कुछ दूनी ही !

× × ×

अरे, अन्ततोगत्वा 'बा' की हुई तपस्या पूरी
और मिटा ही ली उसने निजसे बापू की दूरी !

× × ×

भारत-माँ का मुकुट विनत अब, हिमगिरि अश्रु बहाए,
विकल जवाहर बिलख रहा है कौन उसे समझाए!
आज एक नव तीर्थंकर की वृद्धि हुई प्रति मत में,
देखो-देखो, भुजा पसारी वह नभ ने स्वागत में;
हे हृदय ! मौन, हे देह ! शिथिल मत हो यह जग कर्मस्थल,
अभी जवाहर की छाती में शेष विधाता का बल !
बापू ! दो आशीर्वाद, वह सदा सँभाले थाती,
हाय, अभागे देश-दीप की वही एक अब बाती!

× × ×

किन्तु सान्त्वनाएँ सब कुंठित, जाने क्यों थकती-सीं,
मेरी ही प्रतिमूर्त्ति अनेकों कायाएँ बकती-सीं;
'अरे, स्वयं, आखिर तूने ही मरण-रागिनी गाई,
अपने घर में अपने हाथों, निर्मम, आग लगाई ।'
अरे, सँभालो कोई मुझको, हत्या मुझपर चढ़कर,
मुझे खींचती लिए जा रही जादू-टोना पढ़कर;
चिर अपयश ढो, चिर वर्षों तक अब, हे भारतवासी,
रो सदैव जड़-मूढ़ कि बापू हुआ स्वर्ग-संन्यासी!

× × ×

भाग्य—भविष्यत् का वैभव भरपूर लुट गया!
आज धरा का चिर-सुहाग-सिन्दूर लुट गया!!



अब अन्धकार की बन आई, बुझ गया दीप एकाकी!

१

कोयल ! जाओ तुम दूर, सदा अब काग यहाँ बोलेंगे,
अब तो उलूक ही सदा यहाँ, बस, अपना मुँह खोलेंगे;
हे सुमन ! करो प्रस्थान अभी तुम भी इस क्षण मन मारे,
जिस देश तुम्हारी सुरभि गई माली के मृदुल सहारे;
अब पतझड़ की ही विजय कि चिर धूमिल बसंत की झाँकी,
अब अंधकार की बन आई, बुझ गया दीप एकाकी !

२

हे सत्य-अहिंसा के सौष्ठव ! सम्पुटित सदा अब जीओ,
लाञ्छना—वेदना, विष-विकार अब प्राण-घुँटित तुम पीओ;
हे मंदिर, मस्जिद ! मूर्छित तुम अब, धिक्, श्मसान की जय है,
अब आज देवता ध्वस्त-त्रस्त, आरती शून्य में लय है !
अब गंगा-जल तो अतल-लीन, छबि नृत्य करे मदिरा की,
अब अंधकार की बन आई, बुझ गया दीप एकाकी !

३

पाश्चात्य संस्कृति के विकास ! अब खिल-खुल कर खेलो तुम,
हे सदा अनैतिक तर्क ! अंक में मानव को ले लो तुम;
हे यंत्रवाद के कर्म ! चैन की बंसी सदा बजाओ,
अब सतत् नग्नता से अपनी तुम काया, असत्, सजाओ;
कोई कुपूत हो ले कि डाट अब नहीं सुहागिन माँ की,
अब अंधकार की बन आई, बुझ गया दीप एकाकी !

४

मिथ्यात्व-मेघ ! अब आजीवन तुम स्वार्थ-नीर बरसाओ,
जन-जन-चातक को स्वाँति-सत्य के लिए सदा तरसाओ;
अज्ञान-पवन ! तुम मुक्त कि चिर नीहार-नाश छाओ तुम,
आओ-आओ हे सर्वनाश ! दुख-ओलों में गाओ तुम;
अब आज धरा का सूर्य अस्त, चिर साध सधी संध्या की,
अब अंधकार की बन आई, बुझ गया दीप एकाकी !

५

हे अशुभ ! उलट लो अवगुंटन, अब लाज तुम्हें किसकी है,
भर दृष्टि निहारे भी तुमको, यह ताब आज किसकी है;
हे अहंकार के अश्रु ! मौन अब मुदित सूख जाओ तुम,
पर-दोष-दृष्टि-नागिनि! समाज को तुरत फूँक जाओ तुम;
अब क्यों कि मूर्त्त शिव-शशि को तो कालिख छल गई अमाकी,
अब अंधकार की बन आई, बुझ गया दीप एकाकी !

६

हे दुराचार-दग्धाक्षर ! अब तुम अंकित हो आजीवन,
हे व्यर्थ-वाक्य-व्यभिचार ! बनो तुम विश्व-छंद-संजीवन;
हे सदाचार-सौन्दर्य ! कला की हे करुणे ! कोमलते,
तुम जी न सकोगी प्रगति-जगत में प्रतिपल जलते-जलते;
अब गद्य-गणित गतिमान्, भंग गति मूर्त्तिमान् कविता की,
अब अंधकार की बन आई, बूझ गया दीप एकाकी !

७

हे फूट-तमिस्रे ! निर्भय अब तुम अपनी भुजा पसारो,
शोणित-पिपासिनी घात ! मुक्त तुम अंचल-छोर सँवारो;
सद्भाव-प्रात ! तुम चलो, न अब कोई भी यहाँ सुनेगा,
अब तो तुम तब आना कि जगत जब रो-रो शीश धुनेगा;
विधु बापू भी, लो, हुए तिरोहित कठिन तपस्या 'बा' की,
अब अंधकार की बन आई, बुझ गया दीप एकाकी !



लो, आज अचानक धरती का ध्रुवतारा टूट गया है !

रुक गई सृष्टि, थक गई दृष्टि, भूडोल घटित प्राणों में,
बेझिझक किसी ने आग लगा दी अपने अरमानों में;
अब अंधकार, बुझ गया दीप, उठ गई हाट हलचल की,
बह गई धार तो सिन्धु-लीन, अब शेष रेख है जल की;
तुम कहो कि बापू नहीं रहे, लेकिन मेरी आस्था तो
बस, चेतन ही बापू का अपने जड़ से रूठ गया है !
लो, आज अचानक धरती का ध्रुवतारा टूट गया है !!

२

साधों की सेज, सुप्त चेष्टा, सपनों का नव मेला-सा,
जिन सपनों में अपने स्वराज का यौवन खुल-खेला-सा;
जिनकी छाया में जीवन के निर्माण सतत पोषित थे,
जिनकी अरूप भाषा में चिर शुभ गान सतत घोषित थे!
किस मुँह से कहूँ, आज सहसा किस निर्मम के हाथों से
अपने उन भावुक सपनों का कोमल क्रम टूट गया है!
लो, आज अचानक धरती का ध्रुवतारा टूट गया है!!

३

वह एक व्यक्ति तो था निमित्त, सचमुच, विचार-धारा ही
वह घृणित कि जो बन गई आज बापू-जीवन-कारा ही;
नयनाश्रु पोंछ संकल्प करो, संकल्प करें हम निश्छल,
'बापू के जो पद–चिह्न वही अब अपने जीवन-संबल;
अब तो कलंक यह धोना ही होगा, हे भारत! तुझको,
दुष्कर्म एक का किन्तु भाग्य लाखों का फूट गया है!
लो, आज अचानक धरती का ध्रुव-तारा टूट गया है!!



आज पाप से पुण्य पराजित, अन्धकार विजयी प्रकाश से !

१

कहते हैं विधि का विधान है, एक नियम से बँधा हुआ जग,
कोई एक शेष भूतल में, उन पर ही यह सधा हुआ जग ;
जब वे कभी बदलते करवट, तभी धरा दोलित होती है,
उलट-पुलट जाती है संसृति, साँस-रुद्ध जगती रोती है ;
किन्तु आज, आश्चर्य, शेष की हुई नहीं कोई चेष्टा पर,
सकल सृष्टि हिल गई प्रलय से भी भीषणतम किसी त्रास से !
आज पाप से पुण्य पराजित, अंधकार विजयी प्रकाश से !!

२

अपने युग में आज कदाचित् पहला यह अपवाद नियति का,
जिसने तन झकझोर दिया-सा किसी पूर्व चिर-स्थापित धृति का ;
सुनते थे हम रामचन्द्र ने मारा था रावण राक्षस को,
सदा धराशायी छोड़ा था वासुदेव ने क्रूर कंस को ;
किन्तु आज, आश्चर्य, संस्कृति की परंपरा सहसा बदली,
—बापू में स्वयमेव विष्णु ही विवश-शिथिल होगए दास से!
आज पाप से पुण्य पराजित, अंधकार विजयी प्रकाश से ! !

३

इस दुर्घटना को कोई कुछ भी रँग दे, मन को समझा ले,
किन्तु, कहो, किसलिए एक कवि कोई अपना हृदय दबा ले ?
आज विधाता का विधान जो विपथ सगति होगया भूलकर,
क्यों न उसे प्रकटित कर दे वह कवि अनंत तक सदा शूलकर ?
मोटी बात कहो तुम—'बापू मरे', किन्तु कवि के जाने तो
—मूर्त्तिमान् संयम भू-लुंठित आज विकारों के विलास से !
आज पाप से पुण्य पराजित, अंधकार विजयी प्रकाश से ! !

४

कौन जानता था कि हमारे पाप हमी को कभी छलेंगे,
अपनी ही अंतर्ज्वाला से अपने सुख-संसार जलेंगे ;
अपने ही जीवन में अपनी चिर-साधों की लाश हँसेगी,
अपने ही अनजान बोझसे अपनी पगतल भूमि धँसेगी ;
अरे भले ही अप्रत्याशित, होनहार तो हो ही ली, पर
अब तो सृजन थका ही सहसा, हारा ही निर्माण नाश से !
आज पाप से पुण्य पराजित, अंधकार विजयी प्रकाश से ! !

५

यों तो साधारण से ही नर, कोई बात विशेष नही थी,
हमतुम-से ही सहज देहमय, कोई शक्ति अशेष नहीं थी ;
किन्तु अडिग सत्याग्रह उनका, उनका त्याग, तपस्या उनकी,
उनका साहस धैर्य अनूठा, प्रतिभा प्रायः दृश्या उनकी ;
देख यही कहना पड़ता है उनके विस्तृत, विशद ज्ञान को—
यह कि क्षितिज के छोर बँध गए आज गणितके माप व्याससे!
आज पाप से पुण्य पराजित, अंधकार विजयी प्रकाश से ! !

६

कह क्षुद्र हत्यारा वह औं कहां हिमालय-सा वह गाँधी,
जिससे टकरा आहत् वापिस प्राय: हुई मृत्यु की आँधी ;
कहां अधम वह नारकीय जन और कहाँ बापू-से ईश्वर,
कहाँ घंटिका वह घुँघरू की, कहाँ घोर वह घन घर्षण स्वर ?
फिर भी सच तो सच कि भले ही अचरजका व्यापार समझलो,
आज सतत चिर-स्पंदित जीवन हार गया अधजली लाश से!
आज पाप से पुण्य पराजित, अंधकार विजयी प्रकाश से ! !

७

अरे, किसी ने कभी सना क्या, काँटों से हारे माली–कर,
तीव्र ज्वार की लहरों पर हावी मनचले तुच्छ-से सीकर ;
गला दबाए जड़ चेतन का, यद्यपि मरे न चेतन चाहे,
धूलि करे विधु को आच्छादित, प्रस्तर को चिनगारी दाहे ;
हुआ, हाय, सम्भव न कभी जो, आज वही सम्भव इस युग में,
प्रणत पतन उन्नति पर झूमा, आज ह्रास विजयी विकास से !
आज पाप से पुण्य पराजित, अंधकार विजयी प्रकाश से ! !

८

जिसकी छाया कितने ही श्रान्तों के प्रति विश्राम बनी थी,
जिसकी देह अनेकों लतिकाओं के प्रति चिर धाम बनी थी ;
जिसके अंचल के कोनों में कितने नीड़ मनुज-खग-कुल के,
प्रायः बनते ही रहते थे श्वास-रुद्ध जीवन—संकुल के ;
हे संसार, स्वयं समझो तुम अपने इस कौटिल्य-शास्त्र को,
शोपित आज वही शुभ बट तरु उन्हीं खगों से, लता-घाससे !
आज पापसे पुण्य पराजित, अंधकार विजयी प्रकाश से !

९

जिसके मानस में परहित का स्रोत सदा बहता रहता था,
जो विनम्र सेवक ही जग का अपने को कहता रहता था ;
जिसकी गहराई में संसृति भर के सुख-सपने सोते थे,
जिस के पुण्यक्षार-विभूषित जल से हिंस्रक कर धोते थे ;
किसका यह दुर्भाग्य कहें, अपना या उस निर्मम कायर का,
आज दया का सिंधु वही थक गया किसी की रक्त-प्यास से।
आज पाप से पुण्य पराजित, अंधकार विजयी प्रकाश से !!

१०

जिसकी पद-रज का प्रति कण-अणु तीर्थों का अभिमान लिए था,
जिसका एक-एक स्वर निज में जगके प्रति वरदान लिए था ;
जिसकी एक सहज चितवन ही क्रान्ति-शांति-दो रूप संभाले,
तोड़ दिया करती थी जगकी सभी समस्याओं के ताले ;
आज उसी को लौह-यंत्र के सम्मुख मृत लखकर कहता हूँ,
यह तो मुक्ति स्वयं ही वन्दिनि माया के निर्ग्रंथि पाश से !
आज पाप से पुण्य पराजित, अंधकार विजयी प्रकाश से !

११

कल तक उसके अनुचर थे जो, आज बने वे शूल-फाँस से,
कल तक उसकी लकुटी थे जो, आज बने वे मूल बाँस से ;
आज बन गए चिर विरोध-से, वे जो रहे कभी अनुमोदन,
धन्य कि जो थे सम्बोधन बन, आज बन गए वे उद्बोधन ;
यह दोरंगी चाल जगत की सह न सकूँगा, कह ही दूंगा—
आज सरलतम अर्थ रुँध गया अपने ही साथी समास से !
आज पाप से पुण्य पराजित, अंधकार विजयी प्रकाश से! !

१२

सुनता था अपवाद स्वयं सिद्धान्त-पुष्टि का हित-साधक है
सचमुच तो अपवाद-हीनता ही सुपुष्टि-पथ में बाधक है ;
सच हो यह या झूठ, किन्तु इतना तो निश्चित देख लिया ही,
विधि-विधान भी कभी चूक जाता, इतना तो लेख लिया ही ;
अशिवम् कभी शिवम् पर हावी, सत पर असत् कभी छा जाता,
जैसे ममता पर निर्ममता, आज कपट चिरजयी ह्रास से !
आज पाप से पुण्य पराजित, अंधकार विजयी प्रकाश से ! !

१३

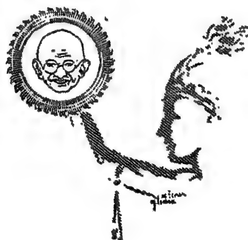
विद्युत् भी तड़पन के पहले अपनी छटा बता जाती है,
आँधी भी चलने के पहले सन्-सन्-सन् कुछ गा जाती है ;
छाया करते मेघ सदा वर्षा के पहले अग्रदूत–से,
कल का भावी वर्त्तमान पाता ही कुछ संकेत भूत से ;
किन्तु हमारे बापू की घटना तो कुछ ऐसी बीती ज्यों—
पूर्ण सुनिश्चित समय स्खलित हो किसी अनिश्चित अनायास से !
आज पाप से पुण्य पराजित, अंधकार विजयी प्रकाश से ! !

१४

सतत साधना निरत, न जिसको वातावरण कभी छूता था,
जिसमें निज नर–काया में भी एक बार विधि का बूता था;
एक राम का नाम इष्ट था, जिसकी और नहीं अभिलाषा,
मानव सचमुच ही मानव हो, जिसकी एकमात्र यह आशा;
आज वही एकांत, हाय, कोलाहल से हो गया पराजित,
एक निष्ठ आवास थकित ज्यों ध्येय-हीन भटके प्रवास से !
आज पाप से पुण्य पराजित, अंधकार विजयी प्रकाश से! !

१५

एक बात है किन्तु कि यद्यपि चक्र आज उलटा घूमा है,
आज मौन मतवाला होकर मूर्त्त-मुखर पर जा झूमा है ;
किन्तु सदा गीता का गायक सह न सकेगा इस अनीति को,
आज या कि कल सिद्ध करेगा ही फिर वह जगकी प्रतीतिको;
किसी रूप में प्रकटित होगा ही कि देर, अंधेर नहीं पर,
एक बार धरती गूंजेगी ही फिर उसके अमर श्वास से !



मेरे बापू—

घटना.......

ऊषा श्रान्ता, कम्पित चरणा
उस दिन रवि भी कुछ सूना था,
निस्तेज गगन-मंडल, दिक्-दिक्
नीहार समाया दूना था;

किरणें उतरीं तो किन्तु न उनमें
चंचलता की छाया थी,
पुलकन के प्राण न थे भीतर
केवल प्रकाश की काया थी;

गति-विधियाँ मानव की भू पर
जागीं तो पर अलसाई सीं,
प्रत्येक हृदय बोझिल, मुख पर
अदृश्य अशुभ की झाईं-सी ;

सागर में हल चल तो थी, पर
'चल' में क्रन्दन भी पोषित था,
पल-पल-आन्दोलन में विचित्र
कुछ निठुर नाद-सा घोषित था;

गंगा गतिशीला थीं, सच, पर
गर्वित न, अपितु कुछ लज्जित थीं,
अपनी अथाह गहराई में
मानो कि आप विनिमज्जित थीं;

हिमगिरि भी अभय कदाचित् कुछ
उस दिन हिल-डोला-सा होगा,
अपने प्रस्तर-संघर्षण की
वाणी में बोला-सा होगा;

इतिहासों की साँसें भी कुछ
उस दिन रुँध-रुँध जाती होंगी,
भूगोल सचल भी धुरी-विन्दु
पर उस दिन बँध जाती होगी ;

जिस दिन अपनी ही छाती पर
अपनी ही निठुर कलाई ने,
अपनी ही जीवित श्रद्धा पर
पिस्तौल चलाई भाई ने;

जिस दिन बापू की दिव्य देह
कर-बद्ध राम का नाम लिए,
भू-सात् हुई थी निर्मम के
प्रति भी निर्व्याज प्रणाम लिए ;

कवि-कर्म कठिन, लेखनि, न रुको
भावुकता अंकित कर ही दो,
नर को उसकी करतूतों के
प्रति चिर आतंकित कर ही दो;

ईसा का नाम सुना होगा
उनको शूली दी थी नर ने,
वह विगत संस्कृति अवनत, पर
अब के उन्नत नर-विषधर ने;

डस लिया स्वयम् अपने तन को
अपने ही प्राण विहँस लीले,
अपने ही हाथों, हाय, किए
माँ के सुहाग-कंकन ढीले;

अपनी ही चौड़ी छाती पर
अपनी ही लात खींच मारी,
अपनी ही रक्त-पिपासा पर
अपनी कोमल काया वारी;

अपने ही हाथों अपने ही
मंदिर पर जड़ित किया ताला,
स्वयमेव पुजारी-वंशजने
पूजा का फूल मसल डाला;

अपने ही हाथों धरा-धूलि में
निज अरमान मिला डाले,
अपने ही हाथों से अपने
जीवित भगवान जला डाले;

सरिता के अपने ही तट ने
सरिता के जल को सोख लिया,
लघुतर प्रस्तर की काई ने
द्रुततर प्रवाह को रोक लिया;

अनुचर घन ने स्वयमेव सूर्य–
स्वामी के रथ की गति बाँधी,
दुर्भाग्य ! स्वयं तिनके ने ही
कुंठित कर दी युग की आँधी;

कुछ अधम कंटकों ने मिलकर
उपवन का भाग्य उजाड़ दिया,
जीवित बसन्त का बध कर के
मधुऋतु का अंचल फाड़ दिया;

कायर कुपूत ने स्वयम्, हाय,
माता का मस्तक-बिन्दु मला;
मानो कि अंक के ही कलंक
ने मातृ-पूज्य पति-इन्दु छला;

साधक ब्राह्मण-परिवार-जात
ने अपने कुल को लजा दिया,
निर्धूम आरती-दीपक को
अपने ही हाथों बुझा दिया;

दुर्भाग्य ! आप अपने नख ने
कर लिया स्वतन सारा विषाक्त,
दुर्भाग्य ! स्वयं शिव के सिर पर
चढ़ गया मूढ़ उन्मत्त शाक्त;

धिक्कार ! स्वयं ही सावन ने
निज को तपता बैशाख किया,
स्वयमेव अभागे कलियुग ने
जीवित सयुगत् को राख किया;

धिक्, संस्कार, जो निगल गया
जीवित स्वसंस्कृति का शरीर,
जिसने अपने ही हाथों से
अपना वक्षस्थल लिया चीर;

अपना ही गला फँसा डाला
अपनी ही जीवित फाँसी ने,
अपनी ही चिता सँजो डाली
अपने ही भारतवासी ने;

अब हे भारत! यह चिर कलङ्क
चिर अपयश का चिर कलुष भार,
कन्धों पर लादे जी, रे, तू
सह अपने प्रति युग-धिक्-प्रहार;

हे महाराष्ट्र! चिर विनत-शीश
नत-नयन बिता अब निज जीवन,
जब तक कि धरा में साँस शेष
जब तक कि सृष्टि में है स्पंदन;

यद्यपि कालिख यह अमिट
कलाधर की ही कालिख के समान,
भारत के भूमंडल पर है
यद्यपि उसका चिर स्थिर वितान;

फिर भी धूमिल पड़ सकती वह
साधना निरंतर यदि कर तू,
जिस लिए मरे अपने बापू
उद्देश्य वही लेकर मर तू;

हिन्दू-मुस्लिम का शून्य भेद
तू भूल कि सब भाई-भाई,
किस प्राणी में तूने न, बोल,
ईश्वर की प्रतिसत्ता पाई ?

मानवता के जिस विशद ध्येय
के प्रति बापू बलिदान हुए,
जिस सत्य अहिंसा के निमित्त
ईसा के अनुसंधान हुए;

तू उन्हीं लक्ष्य-केन्द्रों के प्रति
यदि अपनी नाव नहीं खेता,
प्रतिकार–वृत्ति की लहरों से
बच, यदि न स्नेह-तट पा लेता;

तो निश्चित तेरा नाश निकट
तेरा कलंक चिरस्थायी है,
असमय तेरे स्वातंत्र्य-बाल
की कल ही मरण–सगाई है !

× × ×

हम......

हत्यारा दंडित हो कि न हो
यह प्रमुख नहीं अपना विचार,
अपनी चिन्ता तो यह कि हुआ
सम्भव ही कैसे कुलाङ्गार;

इस भाँति बदल दें अब तो हम
अपनों की जीवन-माप-रेख,
लिख सके न कोई नीच कभी
फिर यों कलंक का कलुष-लेख;

तात्पर्य न इसका यह कि निबल
हम, दंड नहीं दे सकते हैं,
बापू की हत्या का बदला
हत्यारों से ले सकते हैं;

बापू तो अति मानव थे, पर
हम तो मानव हैं, दुर्बल हैं,
बापू थे अमृत-धार सरल
पर हम तो टेढ़े जग-जल हैं;

विश्वास करो, हे यंत्र-विश्व
जड़-दास ! कहीं अपने मन में,
बापू की आन न होती यदि
वचनप्रभाव उनका तन में;

तो एक गोडसे तो क्या, हम,
जितने भी यहाँ विमोही हैं,
बापू की हत्या में भागी,
जितने भी देशद्रोही हैं;

गिन-गिन कर सब के शोणित से
धरती को रंजित कर देते,
गीतोपदेश को साक्षात्
इस युग में व्यंजित कर देते;

कौरव अवंश होते सारे
प्रत्येक तरुण पांडव होता,
फिर विगत महाभारत भूपर
प्रलयंकर का ताण्डव होता;

पर, बापू ! स्वर्गस्थित चिर तुम
पीड़ित मत हो, हम सह लेंगे,
भावोद्वेग-प्रेरित यद्यपि
हम विवश कभी कटु कह लेंगे;

पर, देव ! तुम्हारी वाणी का
सक्रिय अपमान नहीं होगा,
सौभाग्य-तस्करों के प्रति भी
प्रतिहिंसा—दान नहीं होगा !

× × ×

गोडसे......

हे अपने ही साकार पतन
हे नर-तन में विश्वासघात,
हे उच्च संस्कृति के कुपूत
पुंल्लिग बनी हे घृणित घात;

विज्ञानवाद के मूर्त दम्भ
हे पिङ्गल के दग्धाक्षर-से,
हे दावानल के दृश्य दाह
पापों के जीवित पंजर-से;

हे मनुज-यंत्र, जड़ के प्रहरी
हे कायरता के कलुष-जाल,
दो अरब मानवों के मनके
हे उत्तर से वंचित सवाल;

हे स्वप्न महत्त्वाकाँक्षा के
हे पागलपन के प्रण-प्रयास,
अधिकार-वासना के प्रतीक
हे शैशव के प्रति ढीठ त्रास;

हे नवयौवन में श्वेत केश
युग-गायक के कंठावरोध,
पशुता के हाथों विके हुए
जग-जीवन के जीवित विरोध;

हे स्वस्थ देह पर कोढ़-चिह्न
विस्फारित दृग में रजकण-से,
पगतल में सहसा चुभे शूल
तंद्रिल मनुष्यता पर व्रण से;

उन्मुक्त विहग पर बधिक-दृष्टि
नव नीड़-निकट निर्ल्लज्ज हाथ,
हे वह जघन्य दुष्कृत्य, कि जिस
ने झुका दिए शत कोटि माथ;

कोमल पराग पर पावक-से,
हे चित्र-कला पर मसि-निपात्,
. . . .
. . . .

हे निर्मल जल में कीचड़-से
दिन के प्रकाश में तिमिर-तार,
हे ईश्वर के प्रति सफल व्यंग
पर-वंचन के सक्रिय विचार;

दीपक के प्रति वातायन-से
हे शलभ-पंख पर लपट-लोभ,
जन-मन-सागर में मंथन-से
हे मस्तिष्कों में मूर्त्त क्षोभ;

मलियानिल के प्रति विफल विघ्न
ज्यों चेतन के प्रति जड़-निरोध,
हे हरित-फलित के प्रति तुषार
ज्यों बाल-कृष्ण पर कंस-क्रोध;

मंदिर के प्रति कुंठित कपाट
हे पूजा के प्रति कर–निषेध,
साक्षात् मूर्त्ति के मस्तक पर
हे नास्तिक के पाषाण-वेध;

हे पौरुष के शाश्वत् अपयश
हे मानवता के तिरस्कार,
हे हिन्दू के अक्षम्य ह्रास
ह भारत के भूले विकार;

हे बापू के घातक, घालक
हम दोष न तुझको देते हैं,
धिक्कार-भाव भर भाग्य स्वयं
हम अपना कोसे लेते हैं;

—क्यों पुण्य हमारे हुए नहीं
इतने कि न हम होते अनाथ,
'बा' से मिलने को चल पाते
बापू न हमारा छोड़ साथ;

क्यों काँपा तेरा हाथ नहीं
भुज-मूल न टूट गिरी भूपर,
पिस्तौल उलट क्यों चल न गई
चंचल हो तेरे ही ऊपर;

ध्रुव मीरा या प्रह्लाद आदि
की युग की जनता-से स्वकर्म,
क्यों हुए न जो भगवान वहाँ
आ गए न धर कर मनुज-चर्म;

बापू की रक्षा करने को
संस्थापनार्थ युग-धर्म रूप,
जिसमें गिर कर तू मर जाता
खुद गया न तब क्यों वहां कूप;

'बापू' न रहे—जब सुना, क्यों न
तब गाज गिरी अपने ऊपर,
क्यों फटी न वसुधा की छाती
आकाश न आ टूटा भू पर;

क्यों थका न कवियों का कवित्व
संगीत न क्यों निष्प्राण हुआ,
जीवन औ' गति के बीच न क्यों
सहसा अलंघ्य व्यवधान हुआ;

जन्मांध हृदय के, हे पापी
तू मूढ़ भला क्या जानेगा,
जग की कितनी अनमोल हानि
हो गई न तू पहचानेगा;

× × ×

बापू.....

बापू ! तुम गए, तुम्हें शायद
जाना ही था अपना अभीष्ट,
हम कायर संकट के सम्मुख
हो गए विमुख, दे गए पीठ;

तुमको तो स्यात् प्रतीक्षा ही
यह थी कि काल कब आता है,
कब इष्ट तुम्हारा राम तुम्हें
अपने साकेत बुलाता है;

माध्यम सहसा बन गया अधम
अन्यथा मरण तो होता ही,
सच, आज या कि कल किसी एक
दिन तो यह भारत रोता ही;

इस भाँति किन्तु बलि हो कर तुम
मरते-मरते भी, हे महान,
दे गए देश को एक और
अपना अंतिम उपकार-दान;

—वह वैमनस्य की विषम आग
जो धधक रही थी कण-कण में,
उत्तर को करती भस्म, फेंकती
जो चिनगारी दक्षिण में;

वह जिसे बुझाने में न सफल
हो पाता था शासन-कौशल,
वह जिसको घृत-वत् सदा-प्राप्त
था संघ-सभा का घातक छल;

वह जिसने अनगिन अबलाओं
के छीने थे अनगिनत लाल,
पंजाब-पंच सरिताओं के
जल को जिसने था किया लाल;

जिसने माताओं का सतीत्व
बहनों की लाज जलाई थी,
जो अभी तुम्हारे उपवासों से
भी न, हाय, बुझ पाई थी;

वह आग आज हो गई शान्त
जब तुमने सहसा जान—मान,
निज शोणित सागर किया मुक्त
हँसते-हँसते दे दिए प्राण;

स्वयमेव कि जब तुम दृढ़ प्रतिज्ञ
थे गीता के, हे मूर्त्तप्रण,
निर्वाण रोक पाते कैसे
तब हम कि देहधारी ही तृण;

सूर्यास्त कभी किसने रोका
किसने शशि की अवसान प्रगति,
मुरझाते ही रहते प्रसून
किसने बाँधी सरिता की गति;

जलता जो दीप बुझेगा ही
झंकृति होगी ही कभी मौन,
आता बसंत तो पतझड़ को भी
रोक सका कब यहाँ कौन;

जीवन में दोनों द्वन्द साथ
सुख-दुख का आलिंगन शाश्वत्,
घटनाएं घटती ही रहतीं
चलता ही रहता जग विधिवत्;

संसार प्रतीक्षा करता है—अब
फिर आए कोई महान्,
अवतरित धरा पर एक बार
फिर कोई मनु का करे त्राण;

लेकिन जब आती वह विभूति
संसार वही स्वयमेव, हाय,
अपने ही हाथों पुनः पुनः
कर देता उसको मृतक प्राय;

कुछ भी हो, लेकिन, बापू ! तुम
जा पहुँच वहाँ पर, हमें भूल,
जाना न, सदा देते रहना
इस उस मिस अपनी चरण-धूल;

वर्षा है, वायु-प्रवाह आदि
अनगिन चिर प्राकृतिक साधन,
जब जैसे सम्भव, वैसे ही
आशीष हमें देना, मोहन;

हम तो कृतघ्न, फिर होंगे ही
पितृत्व तुम्हारा पर न थके,
हम तो दासत्व दनुज के, पर
देवत्व तुम्हारा बँध न सके;

तुम वहाँ राम को साक्षात्
पाकर न हमें विस्मृत करना,
जब-जब संकोच हमें घेरे
तब-तब तुम नव साहस भरना;

बल देना व्रती जवाहर को
वह शेष कार्य निर्वाह करे,
भारत के गौरव की नीवें
वह दृढ़तर, सदा अथाह करे;

× × ×

बापू, तुम......

बापू ! वाणी बरबस रुँधती
जब तुम स्मृति-पट पर छा जाते,
जब कठिन तुम्हारे त्याग दृष्टि
के सम्मुख सहसा आ जाते;

तुमने क्या-क्या न दिया, बापू
तुमने क्या-क्या न किया, बापू,
औरों को अमृत दे कर के
कब तुमने विष न पिया, बापू;

सच तो यह, तुम अतिमानव थे
देवत्व तुम्हारा अनुचर था,
तुमको पाकर हो उठा धन्य
सम्प्रति युग का भौतिक नर था;

तुम मुसलमान के आँसू थे
हिन्दू के मानस की पीड़ा,
युग-युग पद-दलिता नारी की
तुममें सस्मित थी मृदु व्रीड़ा;

हरिजन-अछूत की अँगड़ा
जो चिर सुपुप्ति–पश्चात् सजग,
तुम कोटि शोषितों की कराह
तुम लँगड़ी मानवता के उग;

भारत-स्वातंत्र्य-वेदिका के
तुम सतत मूक निस्सीम नमन,
युग-युग परशासित भारत की
तुम मूर्त्तिमान आत्मा, तन-मन;

तुम गत युग के विश्वास अमर
नव युग की आशा स्वस्थकाय,
तुम अत्याचारों के समक्ष
निर्बल के तनुधारी उपाय;

तुम ममता के साकार-सहज
चिर साथी, समता के सम्बल,
तुम कोटि-कोटि मरणोन्मुखी
मुख में पावन गंगा के जल;

तुम सत्य-अहिंसा के प्रभात
करुणा की संध्या लाल-लाल,
तुम सबल शत्रु के सम्मुख भी
क्षमता की कोमल कठिन ढाल;

मेरे बापू

जीवन के भावुक स्पंदन तुम
तुम मानवता के मुक्त गीत,
तुम देव और दानव—दोनों
के एक रूप सन्मनोमीत;

तुम चिर विरोध के मिलन-बिन्दु
तुम सतत समन्वय की लकीर,
तुम मात्र दया की झोली से
सज्जित मानवता के फ़क़ीर;

तुम जन-जन-गज के कृष्ण-बाहु
तुम शंकर के तीसरे नयन,
तुम मूकों के शाश्वत मुख-स्वर
तुम थकितों के विश्राम-शयन;

तुम कातर के निष्कपट हास्य
तुम दीनों के निर्जल रोदन,
तुम पथ-भ्रष्ट के लिए एक
सक्रिय, इंगितमय उद्बोधन;

तुम काया में चिर चित्र-काव्य
प्राणों में प्रतिभा के अंकन,
साँसों में राग-रागिनी के
चिर बंधन, भावुक आलिंगन;

तुम चिर विराग में मूर्त्त मोह
चिर स्थिरता में गति के कम्पन,
चिर भोग-भूमि में अजय योग
चिर जड़ता में चंचल चेतन;

तुम वयोवृद्धि में चिर-यौवन
चिर मृत्यु-अंक में अमर पून,
'कामायनि' महाकाव्य के तुम
हां, अनायास ही अग्रदूत;

तुम सागर के गाम्भीर्य, सरित
के चिर-प्रवाह अपनी गतिपर,
उच्चता निछावर कर बैठा
हिमगिरि तुम पर---निज प्रतिकृति-पर;

तुम पौरुष के परिमाण पूर्ण
तुम सुषमा के परिणाम सफल,
तुम सावन; नयनों में समेट
ममता के भार भरे बादल;

शिक्षा-सम्पन्न, सुसंस्कृत भी
तुम विश्व-लीन संन्यास नवल,
तुम विनत मूर्त्त वैराग्य अलख
जग में रमते फिर भी निश्छल;

फक्कड़ कबीर के अटपट सच
तुम मीरा के लालित्य मधुर,
तुम तुलसी के पांडित्य
सूर की प्रतिभा के विकसित अंकुर;

तुम राम-सौम्य के शुचि साधक
मर्यादा के पाषाण-लेख,
सीता के नूपुर से सुलझे
तुम लक्ष्मण की दुर्द्धर्ष टेक;

तुम सत्य युधिष्ठिर के श्रीमुख
तुम अर्जुन के गाण्डीव धनुष,
तुम युग-दधीचि, युग-हरिश्चंद्र
तुम पुनः अवतरित एक नहुष;

तुम पाणिनि के व्याकरण-सूत्र
तुम पातंजलि के महा भाष्य,
तुम माघ महाकवि के कवित्व
भाषा तुमसे चिर-चिर प्रकाश्य;

राणा प्रताप के आग्रह तुम
तुम शाहजहाँ के सरल न्याय,
तुम भीष्म पितामह के संयम
तुम दुर्वासा की क्रुद्ध हाय;

तुम गीता के अनुवाद मूर्त
तुम रामायण के छन्द–बन्द,
तुम कृष्ण-चरित के वरनायक
तुम वाल्मीकि के मनोद्वन्द;

तुम कलियुग के सशरीर तीर्थ
तुम नूतन तीर्थंकर महान,
दुर्बल ! कि तुम्हारी काया में
व्यक्तित्व पा गया स्वयं दान;

उपनिषद-पुराणों के निचोड़
तुम वेदों के ओंकार–नाद,
गीता के जीवित एक और
अध्याय, बाइबिल के प्रसाद;

इस्लाम–संस्कृति के प्रतिनिधि
पावन कुरान की आयत-से,
लंका-जय करने चले राम
उस अमर जीविनी सायत से;

तुम भारत के अध्यात्म सतन
तुम टॉल्सटॉय के धर्म-बोल,
तुम मार्क्सवाद की मदिरा में
निजतामृत के शुचि मधुर घोल;

मनुस्मृति के कायिक पुण्य-श्लोक
तुम मूर्त्तिमान-से राम-राज,
संध्या की सीधी-सी अज़ान
तुम प्रातः की भोली नमाज़;

मंदिर के स्वर्णिम शिखिर-कलश
—सी कीर्त्ति तुम्हारी सदा धवल,
शिव-ओष्टद्वय की सम्पुट तुम
जिसमें अमृत हो गया गरल;

तुम पूजा के शुभ सजे थाल
तुम प्रथम प्रार्थना के झुकाव,
तुम महादेव की जटा-स्रवित
हिमगिरि पर गंगा के बहाव;

तुम आत्म-समर्पण के प्रणाम
तुम अश्रु-बिन्दु पर सधे भाव,
अब आज दिवंगत होने पर
तुम कोटि मानसों के अभाव;

तुम ईसा के बलिदान, बुद्ध औ'
महावीर के तप-संयम,
पैग़म्बर अमर मुहम्मद के
ख़ामोश नूर तुम निःसम्भ्रम;

तुम सम्प्रति के अवगुंठन
भावी-अंचल के ओर-छोर,
तुम सकल सृष्टि के महासिन्धु
की सदा सुहागिनि मृदु हिल्लोर;

जब तक नभ, नभ पर सूर्य चन्द्र
नक्षत्रों की दीवाली है,
आकाश अधर अदृश्य और
धरती पर नित हरयाली है;

तब तक इतिहासों की रग में
तुम रक्त-रूप, मेरे बापू,
जन-श्वासों के सिंहासन पर
तुम अमर भूप, मेरे बापू;



होली तो खेल गए बापू, अब तो होली की बातें हैं !

कुछ युग बीते, जब एक दिवस भारत के इसी धरातल पर,
खेला था एक युवक होली निज प्राणों को धर करतल पर;
पर, तब थे अपने पुण्य प्रबल, होलिका स्वयं थी राख हुई,
औ' यावत्-भू संसृति भर में प्रह्लाद जयी की साख हुई;
यद्यपि बापू भी अजर-अमर हो गए आज, फिर भी सच तो,
रवि आज मुँद गया मेघों से, हो गईं विजयिनी घातें हैं;
होली तो खेल गए बापू, अब तो होली की बातें हैं !

जीना जाना था बापू ने, मरना जाना था बापू ने,
जीकर अथवा मर कर हो कुछ करना जाना था बापू ने;
उनके अभाव में अब न आज यह रँग-पानी की फाग भली,
होली के रस-भीगे गायन, होली की कृत्रिम आग भली;
मानो, बापू की चिता आज भी धधक रही यमुना-तट पर,
वह बुझ न सकी यद्यपि अविरल युग-नयनों से बरसातें हैं;
होली तो खेल गए बापू, अब तो होली की बातें हैं !

जीवन के सदा सजग प्रहरी युग-मानवता के द्वारों पर,
बापू थे शाश्वत नाद मौन नर्त्तन-रत निज झनकारों पर;
सुख-दुख के दो स्वर-ताल समन्वित होते थे उनकी लय में,
संगीत स्वयं गा उठता था उनकी न कभी हारी जय में;
वे गए कि मानो पेंतीसों ही सत्, शिव, सुन्दर राग रुँधे,
अब तो, बस, दीपक राग और ये मायावी युग-रातें हैं;
होली तो खेल गए बापू, अब तो होली की बातें हैं !



आज हमारी आज़ादी की ऊषा कुछ शरमाई-सी है !

१

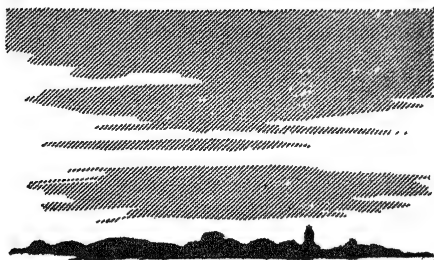
माना, आज हृदय-वीणा का तार-तार झंकृत होता है,
एक-एक स्वर पर सपनों-सा मेघ-मल्हार सुखद सोता है;
फिर भी तो जाने क्या कारण, गूँज नहीं उठता है अम्बर,
गायक के गीतों की गति में मृदुल उदासी छाई-सी है !
आज हमारी आज़ादी की ऊषा कुछ शरमाई-सी है !!

२

माना, अभी कली अस्फुट है, पूरा नहीं विकास हुआ है,
यही कली कल फूल बनेगी, केवल कुछ आभास हुआ है;
फिर भी तो जाने क्या कारण, आशा को विश्वास न छूता,
प्रमुख पंखुरी उसी कली की सहसा कुछ मुरझाई-सी है !
आज हमारी आज़ादी की ऊषा कुछ शरमाई-सी है !!

३

नाविक को खो कर यदि हमने सागर लाँघ लिया भी तो क्या,
बापू को खो यदि निद्रा से हमने जाग लिया भी तो क्या;
तुम कह लो आज़ादी आई, पर सचमुच मेरे जाने तो,
आज़ादी की अभी झलक ही हमने कुछ-कुछ पाई-सी है !
आज हमारी आज़ादी की ऊषा कुछ शरमाई-सी है !!



आज़ादी की प्रथम जयन्ती, पर जाने उत्साह नहीं क्यों !

१

दीप-शिखा-सी यद्यपि निशि-दिन आज़ादी की लौ जलती है,
अंधकार के काले तन को उसकी अमर ज्योति छलती है;
फिर भी तो उसके स्पर्शन में जाने परिचित दाह नहीं क्यों ?
आज़ादी की प्रथम जयन्ती, पर जाने उत्साह नहीं क्यों ?

२

मन का पथिक निरंतर यद्यपि थका हुआ भटका फिरता है,
और अचानक कभी-कभी वह पद-चिह्नों से भी घिरता है;
फिर भी पर उसके पाँवों को जाने मिलती राह नहीं क्यों ?
आज़ादी की प्रथम जयन्ती, पर जाने उत्साह नहीं क्यों ?

३

यद्यपि कहने को हम बापू के अभाव को भूल गए हैं,
आज़ादी के नए गीत सुन, मन ही मन में फूल गए हैं;
फिर भी तो निज लज्जित मुखपर सहसा जाने 'वाह' नहीं क्यों ?
आज़ादी की प्रथम जयंती, पर जाने उत्साह नहीं क्यों ?



१५ अगस्त '४८

सावन का यही महीना था,
उन्माद चढ़ा था पानी पर;
चिर प्रौढ़ प्रकृति की बेटी थी,
हरियाली नई जवानी पर;

चौदह अगस्त की साँझ कि मैं
एकाकी मौन अर्द्ध-निद्रित;
छत पर लेटा था देख रहा,
ऊपर आकाश अधर सुस्थित;

मेरे बापू

सूनापन धूमिल-बोझिल-सा,
नभ पर काले घन छाए थे;
जैसे-तैसे किन्नरियों ने,
तारों क दीप जलाए थे;

दो सेत घनों के बीच चाँद
यों कभी-कभी फँस जाता था;
मानो, अधरों के बीच प्रथम
चुम्बन बरबस हँस जाता था;

मेघों का नीलापन क्रमशः
झरता जाता था पतझर-सा;
रह-रह कर सृष्टि सभय होती
लो, अब बरसा, अब फिर बरसा;

सारी धरती हो गई साभ,
जल बिन्दु हँसे पंखुड़ियों पर;
मानो, मोती ही चमक उठे
कुछ रंग-विरंगी मणियों पर;

बादल-दल गरजे कामुक से,
चपला छल कर क्यों भाग गई;
उनके सोते मन-प्राणों में
क्यों व्यर्थ लगा वह आग गई;

अब तो, बस, क्रोधी काले ये
उसको पाकर ही मानेंगे;
यदि वह न मिली तो जिस-तिस से
तकरार क्रूर ये ठानेंगे;

चल पड़े खोजते—मँडराते,
क्षण कभी यहाँ, क्षण कभी वहाँ;
थी अभी यहीं तो झलकी वह
क्षण भर में ही छुप गई कहाँ;

पर बिजली तो आखिर बिजली,
थक गए मेघ हो चूर-चूर;
वे छू न सके उस पथ को भी
जिस पर भागी थी वह सुदूर;

शैथिल्य भर गया पाँवों में,
आँखों में जल-सा भर आया;
फिर भार न जब भारी सँभला,
पलकों ने भू पर बरसाया;

औ' रिमझिम-रिमझिम उडुगण-सी,
नन्हीं फुहार जल-कड़ियों-सी;
विवशा-सी भू पर बिखर गई
मानो शीतल फुलझड़ियों-सी;

फिर एकमात्र सर्वत्र मौन,
आकाश हुआ प्रायः उज्ज्वल;
मेघों का व्यूह विलुप्त हुआ,
शशि की साँसों में आया बल;

क्षण एक हाँफ़ता रहा किन्तु,
तत्काल स्वस्थ हो उदित हुआ;
गा उठी चाँदनी स्निग्ध गीत,
तारक-समूह मन-मुदित हुआ;

नैस्तब्ध्य भंग कर देता था,
बस, कभी-कभी गीला समीर;
क्रमशः मेरी दृग-कोरों पर,
रीझी निद्रा की सुखद पीर;

मैं डूब चला-सा सपनों में,
सारा अतीत साकार हुआ;
भारत का सर्व प्रथम कैसे,
अँग्रेज़ों से व्यापार हुआ;

फिर क्रमशः शासक बन बैठे,
कैसे ये गोरे ब्योपारी;
विद्रोही भारत ने कैसे,
सत्तावन में बाज़ी हारी;

फिर काँग्रेस का जन्म हुआ,
सँभला स्वराज्य का अन्दोलन;
आतंकवादियों ने कैसे,
नित ज्वाला सुलगाई क्षण-क्षण;

फिर गाँधी जी का बल पाकर,
कैसे संग्राम सरोप हुआ;
सन् बीस-तीस में प्रथम बार,
कैसे हम जागे, होश हुआ;

नाराए पाकिस्तान पुनः,
कैसे पनपा, पल्लवित हुआ;
हिन्दू-मुस्लिम में द्वेष बढ़ा,
भारत का स्थायी अहित हुआ;

फिर कैसे नूतन लोभों से,
हम को गोरों ने बहलाया;
इस ओर किया जलियान बाग़,
उस ओर घाव को सुहलाया;

सन् बयालीस में आखिर फिर,
कैसे निज धीरज छूट गया;
समझौते का प्रत्येक सूत्र,
सुख के सपनों-सा टूट गया;

"अंग्रेज़ो ! भारत छोड़ो" का
नारा, बस, अपना ध्येय बना,
भारत का एक-एक बालक,
अर्जुन बन गया, अजेय बना;

आख़िर फिर कैसे टेक दिए,
घुटने, पर-राज्य समाप्त हुआ;
हो गई हमारी माँ स्वतंत्र,
उल्लास असीमित व्याप्त हुआ;

स्वातंत्र्य-चेतना-लहर नई,
अपनी नस-नस में फैल गई;
मानो मुरझाए फूलों पर,
मलयानिल होली खेल गई;

आँखों के आँसू सूख गए,
मानस की मीड़ें गमक उठीं;
मानो प्राणाम्बर में सस्वर,
अनगिनत बिजलियाँ चमक उठीं;

हमने इतना शृंगार किया,
इतिहास विगत शरमाया-सा;
चेतन तो फिर भी चेतन ही,
जड़तक में जीवन छाया-सा;

मेरे बापू

चलते-चलते सेंतालिस में,
कैसे फिर परदेशी शासन;
खंडित कर गया राष्ट्र-मंदिर,
माता का मंजुल पद्मासन;

हिन्दू-मुस्लिम—जो दो मशाल,
दोनों पर तेल उँडेल गया;
दोनों की इच्छा-आकांक्षा,
चिर-अरमानों से खेल गया;

फलतः फिर कैसे मिल-जुल कर,
हम रह न सके, उत्पात हुए;
दुर्भाग्य प्रबलतम था कि यत्न,
सब उससे हारे, मात हुए;

भाई-भाई के शत्रु बने,
शोणित की धार बहा डाली;
हम नीच कि हमने लाली में,
माता की देह नहा डाली;

अपने ही हाथों आग लगा,
स्वयमेव जलाया अपना घर;
इतने पर भी हम अधमों की
बुझ सकी न पापिन प्यास मगर;

घर में जो बूढ़ा प्रहरी था
उसकी भी चिता सँजो डाली,
अपनी अमोल निधि अपने ही,
हाथों से सहसा खो डाली;

अपना गृह-दीप बुझा डाला
अपनी ही घातक साँसों से,
अपने ही जीवित पुण्य छले
अपने पातक विश्वासों से;

× × ×

सहसा बापू की घटना की
स्मृति आते ही मैं चौंक उठा,
मानो, अपनी ही छाती में
मैं स्वयं तीक्ष्ण असि भौंक उठा;

सोता था, फिर भी सिहर उठा
प्रत्येक रोम-अणु जाग उठा,
"तू भी बापू का हत्यारा"?
मैं निज से उत्तर माँग उठा;

नख से शिख तक तन स्वेद-सिक्त
हृद्-स्पंदन, मानो, सिहर उठा,
घबराया, यहाँ-वहाँ देखा
सहसा सम्मुख कुछ प्रहर उठा;

पहचाना, केतु तिरंगा था
सहसा मुझको आ गया ध्यान,
स्वातंत्र्य-दिवस, १५ अगस्त,
सचमुच ही कल का दिन महान;

भारत भर का प्रत्येक प्रान्त
कल नव रस मदमाता होगा,
आबाल-वृद्ध, कल एक-एक
मादक सावन गाता होगा;

कल भारत-वन का पात-पात
झूमेगा नई बयारों में,
पुष्पित होगी प्रत्येक कली
'हाँ'-गर्भित मौन नकारों में;

प्रातः समीर इठलाएगा
यौवन के स्वप्न लुटाएगा,
माता के चरणों का सागर
सीमा में नहीं समाएगा;

गंगा उन्मादिनि नाचेगी
लहरों पर देगा कल ताल,
कल-कल संगीत ध्वनित होगा,
सुन झूमेगा तट का रसाल;

मेरे बापू

सहसा मेरी कल्पना थमी
जैसे निर्झर गति थकती है,
अथवा जैसे चंचला मृगी
भय देख अचानक रुकती है ;

दो चरण किसी के भूल गए
मेरे नयनों की बाहों में,
निर्दोष किसी का हास्य चुभा
मेरे अन्तः की आहों में;

मेरे मानस में द्वन्द मचा
अवशिष्ट अभी तक चित्-भ्रम है,
कल ईद हमारी है, अथवा
मातम से भरा मुहर्रम है;

जिस आज़ादी के हित हमने
बापू की देह गँवा दी है,
मैं लगा सोचने, सचमुच वह
कितनी महँगी आज़ादी है;



तुम महानतम पर्व....!

१५ अगस्त !

भारत के इतिहास-लेख में
हे अगस्त के मास ! अमर तुम,
सैंतालिस में शान्ति-दूत तो
ब्यालिस में थे बने समर तुम;

नौ अगस्त की उस ऊषा को
जो रक्तिम बन कर आई थी,
कैसे भूल सकेगा कोई
जिसकी ऐसी अँगड़ाई थी;

नभतल, भूतल काँप उठे थे
आलिङ्गन को आतुर हो कर,
शेषनाग ने करवट बदली
थी सदियों तक बेसुध सोकर;

बिंध्याचल की तो बिसात क्या
स्वयम् हिमालय डोल उठा था,
जनता के स्वर में स्वर भर कर
सागर भी जय बोल उठा था;

'गाँधी की जय', 'बापू की जय'
'यह अंतिम संग्राम हमारा,
'कर जाएँगे, मर जाएँगे'—
कण-कण से गुंजित था नारा;

इनक़लाब साकार हुआ था
शासन-यंत्र हुआ था कुंठित,
अदमनीय उत्साह देख कर
दमन हुआ था पदतल-लुंठित;

कारागारों की प्राचीरें
हिल-हिल उठती थीं दहाड़ से,
मुट्ठी भर सिर मार उठे थे
मानो, पाषाणी पहाड़ से;

उस दिन अपनी आज़ादी की
सचमुच गहरी नीव पड़ी थी,
जिस दिन बलिया की नागिनि-सी
जनता घायल क्रुद्ध खड़ी थी;

सम्मुख अस्त्र-शस्त्र से सज्जित
सरकारी सेना अपार थी,
उधर दूसरी ओर अहिंसा
के रथ पर जनता सवार थी;

और निहत्थी, भावुक जनता
ने नौ दिन तक राज किया था,
चित्तू पाँडे से नायक को
बादशाह बेताज किया था;

एक अकेला बलिया ही क्या
गाँव-गाँव आष्टी-चिमूर था,
आज़ादी की सुख-शराब में
भारतीय प्रत्येक चूर था;

बयालीस का वह आन्दोलन
सचमुच, उपसंहार बन गया,
सच पूछो, स्वातंत्र्य-स्वप्न तो
उस दिन ही साकार बन गया;

जिस दिन आग़ाख़ान महल में
बापू का तन बन्द हुआ था,
और राष्ट्र की माता 'बा' का
जड़ शरीर निस्पंद हुआ था;

तो अगस्त के मास ! तुम्हारा
एक रूप यह था विद्रोही,
और दूसरा सैंतालिस में
जब तुम बने विजय-अवरोही;

ठीक अर्द्ध घड़ियों में अपनी
स्वर्गिक सुख-संदेश-वेष में,
रामराज-से उतर पड़े थे
शासित-शोषित त्रस्त देश में;

पुलक उठा था एक-एक तन
एक-एक मन मुक्त हुआ था,
इस धरती का एक-एक कण
सुख-स्वतंत्रता-युक्त हुआ था;

लाल क़िले के लाल शिखिर पर
तीन रंग का केतु उड़ा था,
और राष्ट्र के जीवन का पथ
निर्माणों की ओर मुड़ा था;

नगर-नगर में, ग्राम-ग्राम में
अद्‌भुत पर्व महान हुआ था,
नव स्वतंत्रता के अभिनंदन
का घर-घर सामान हुआ था;

ईंट-ईंट पर दीप जले थे
पथ-पथ का शृंगार हुआ था,
सचमुच, उस दिन अपनी भू पर
अपना ही अधिकार हुआ था;

किन्तु न जाने महमा अपने
किन पापों का उदय हो गया,
हमें जगाने वाला प्रहरी
स्वयं सदा को मौन सो गया;

ऐसा कैसा झोंका आया
आज़ादी का दीप कंप गया,
सदा मृत्यु को मापा जिसने
वही मृत्यु से स्वयं मप गया;

अरे, तभी तो आज तुम्हारा
कुछ सत्कार न कर पाए हम,
चाहा बहुत, किन्तु प्राणों में
नव उल्लास न भर पाए हम;

फिर भी रुँधे कंठ से जैसा
जो कुछ आवाहन, अपनाओ,
तुम महानतम पर्व, कि चाहे
हम रोएँ, पर तुम मुस्काओ;



सहसा बुझ जाने को ही तो आज हमारा दीप जला था !

१

मादक मन्द समीर बहा था नव बसन्त की अँगड़ाई में,
पंचम स्वर में कूक उठी थी कोयल वृद्धा अमराई में;
कोंपल ने जीवन पाया था, नई चेतना नव पराग ने,
किसी कली की मुस्कानों को चूम लिया था सुख-सुहाग ने;
किन्तु न जाने, शाप कौन-सा, पापी ताप कहीं से आया,
सहसा मुरझा जाने को ही आज हमारा फूल खिला था;
सहसा बुझ जाने को ही तो आज हमारा दीप जला था !

२

खिली चाँदनी रात रुपहली, सकल सृष्टि भीगी प्रकाश में,
मुखरित मौन हुआ मलयानिल सुभग चाँद के स्निग्ध श्वास में;
दिग्-बधुओं के श्यामल तन पर चितकबरा अंचल लहराया,
अपनी अपलक भापा में कुछ शिशु-तारों ने स्वागत गाया;
किन्तु न जाने, किस का इंगित, क्रमश: तारे टूटे-डूबे—
हमने देखा—ध्रुवतारा भी गत होने के हेतु पला था;
सहसा बुझ जाने को ही तो आज हमारा दीप जला था !

३

जिसके पद-नख की कोरों पर नित नूतन इतिहास सँवरता,
जरा-रोग जिसकी रोमावलि को भी छू लेने में डरता;
जिसकी एक सहज मुद्रा पर शत युग-पुरुष निछावर होते,
कोटि काम जिसकी चितवन पर अधर दूर मूर्च्छित हो सोते;
क्या विडम्बना कहें भाग्य की, सहसा मौत उसी से जीती,
जिसने निज जीवन में सौ-सौ बार मृत्यु को अभय छला था;
सहसा बुझ जाने को ही तो आज हमारा दीप जला था !

४

निबिड़ तमिस्रा, छाए बादल, आँधी-पानी की बौछारें,
शूल-शिला के खंड निरंतर नीचे अपने दाँत सँवारें;
पथ पर फाग गुलाबी करतीं तलवों से शोणित की धारें,
थर-थर काँप रहे कुछ साथी, पीछे पल-पल सभय पुकारें;
हे इतिहास ! बता दो, कैसे तुम अंकित ये शब्द करोगे ?
मंज़िल पर गिर पड़ने को ही वह युग-राही सतत चला था;
सहसा बुझ जाने को ही तो आज हमारा दीप जला था !

५

सागर अगर तोड़ दे सीमा, जल-प्लावन हो, महा प्रलय हो,
पर उसका तो चिर आश्वासन—सृष्टि सुखी हो, सृष्टि अभय हो;
और सृष्टि भी सदा उपकृत, फिर अगस्त्य को जन्म न देती,
अपने ही रक्षक को सोखे—यह कलंक, चिर अयश न लेती;
पर, कवि ! इस घटना को कैसे तुम सच मान सकोगे ?—कलि में
एक अहिंसा की प्रतिमा को हिंसा का आघात मिला था,
सहसा बुझ जाने को ही तो आज हमारा दीप जला था !

६

नभ पर उदित दिवाकर प्रतिदिन, शशि-तारों के दीप अनगिनत,
पर देखी या सुनी किसी ने कब, ऐसी अनहोनी-अनहित;
असमय कभी निकल कर कोई, असमय कभी अस्त हो जाए,
और समूची सृष्टि अचानक बिना किसी ग्रह के हो जाए;
किन्तु किसी से क्यों पूछूँ मैं ? स्वयं विधाता ही बतला दे—
उस दिन सान्ध्य-पूर्व दोपहरी में ही क्यों भू-दिवा ढला था ?
सहसा बुझ जाने को ही तो आज हमारा दीप जला था !

७

हम सँभाल रख सके न जिसके मुट्ठी भर दुर्बल हाड़ों को,
हम सँभाल रख सके न जिसके मंगलमय कोमल प्राणों को;
जब कि नियंत्रण रख न सके हम निज अपात्रता पर ही, पापी,
सच के माप-दंड से हमने अपनी मायिक वृत्ति न मापी;
जिसकी चकाचौंध सहने की निज आँखों में ताव नहीं थी,
उस प्रकाश का स्वर्ग-लोक में जा बसना ही सशुभ भला था;
सहसा बुझ जाने को ही तो आज हमारा दीप जला था !



यदा-यदा हि.... ...!

कलियों ने पलक नीची कीं
फूलों के लाल कपोल हुए,
कोंपल के चिकने मृदुल अधर
मलयानिल बिन भी लोल हुए !

इतने आकर्षण एक साथ
भौंरे का लोभी मन डोला,
उसका कौतूहल सजग हुआ
धीरे से मन ही मन बोला—

लज्जिता प्रकृति क्यों आज हुई
जो कल तक रत मनमानी में,
लतिकाएँ सभया विनत हुईं
किस आगत की अगवानी में ?

कलि, कोंपल, लता, सुमन, तरुवर
सब एक साथ ही त्रस्त हुए,
ऐसी क्या चिन्ता अज्ञाता
सब एक साथ ही व्यस्त हुए !

उसकी जिज्ञासा मचल गई
वह एक कली के पास गया,
जैसे अधखुले अधर-पुट में
रुँधता-गिरता-सा श्वास गया !

पर गुन-गुन-गुन करता सशंक
वह ज्योंही बैठा पाँखों पर,
ज्यों ही उसने निज अधर धरे
कलिका की सरसा आँखोंपर !

उसकी भुजमूलों को सहसा
झिटका दे बोली काम-कली—
"सचमुच, यह लोलुपता मुझको
लगती न आज कुछ सुखद-भली;

तुम तो दिन-रात विकारों में
आकंठ सदा लवलीन रहो,
वासना-नीर में नख-शिख तक
तुम डूबे अंधे मीन रहो !

तुमको बसन्त की कुछ न ख़बर
क्या संकट किस पर आता है,
किस सीमा तक किस कारण से
किसके प्रतिकूल विधाता है ?

कल रात अचानक सपनों में
मैंने देखी है एक देह,
दुबली-पतली कुछ श्यामल-सी,
पर मुख-मंडल पर अमित स्नेह;

नयनों में करुणा का विलास
मुस्कानों में चिर अभय दान,
काया थी सहज चर्म की ही,
पर मृदु पराग में ढले प्राण;

अध-उठे दाहिने करतल में
भगवान बुद्ध-सा रेख-जाल,
ईसा की भाँति खुली छाती,
पसलियाँ स्पष्ट ज्यों प्रकृत ढाल;

कर में लकुटी ज्यों न्याय-दंड
कटि-तल में समय-माप वन्दी,
पगतल में भू-लुंटित-मूर्च्छित
मद-मोह-लोभ-से प्रतिद्वन्दी;

हिमगिरि की ऊँची चोटी पर
वह पुरुष खड़ा ज्यों युग-त्राता,
सम्मुख ही तीक्ष्ण त्रिशूल लिए
मुस्करा रहीं भारत-माता;

उसके रोमावलि-कूपों से
प्रतिपल ज्यों आभा झरती-सी,
भीतर अज्ञात-वधू कोई
ज्यों लघु दीपावलि करती-सी;

मैं विस्फारित-दृग, थकित-चकित
अपलक रह गई ठगी-सी कुछ,
पर सपनों में ही कोलाहल
सुन कर कम्पिता जगी-सी कुछ;

सहसा काला-सा एक नाग
आ गया सरकता वहाँ मौन,
वह मूर्त्ति आत्म में ही विभोर,
वह समझ न पाई नाग कौन ?

उसने प्रतिमा को तीन बार
डस लिया रक्त-निर्झर फूटा,
धरती के ज्वालामुखी जगे
ऊपर से नीलाम्बर टूटा;

रवि-शशि, नक्षत्र परस्पर सब
टकराए हो कर क्षार-क्षार,
निस्तब्ध समीरण के तन में
आया अनजाने ज्वलित ज्वार;

अनगिनत बिजलियाँ चमक उठीं
आँधी-पानी के प्लावन में,
अगहन, फाल्गुन हो उठे मूर्त्त
ऐसे ही भादों-सावन में;

थर-थर थर-थर सब सृष्टि कँपी
सरिताएँ पथ से भ्रष्ट हुईं,
तट-कूल सभी जल-मग्न हुए
सागर-सीमाएँ नष्ट हुईं;

जल और अग्नि का संघर्षण
त्रय तत्त्व शेष अस्तित्व-हीन,
क्या इसीलिए, अहि-दंशन के
वक्षस्थल पर थे घाव तीन;

वह मूर्त्ति हिली-डोली, मुखरित
कह सकी मात्र, बस, 'राम' नाम,
फिर भू-माता के चरणों में
गिर पड़ी किया, मानो, प्रणाम !

कलिका का रोमांचक सपना
सुन कर भौंरा भी सिहर उठा,
उसका संचित कामुक विकार
टूटे तारे-सा ठहर उठा;

कलिका फिर बोली—"यह सपना
मत समझो केवल सपना है,
मन की कुछ अशुभ धारणा ही
अथवा केवल भ्रम अपना है;

सचमुच, संकेत सजग है यह
अवतार आज ही होगा वह,
भारत-माता के अंचल में
साकार आज ही होगा वह;

जिसको मनु-मानव-मात्र—सभी
'बापू' की संज्ञा दे देंगे,
अवतारों के ही संग-संग
सब जिसका नाम सदा लेंगे;

जो शिव की भाँति स्वयं विष पी
अमृत दे देगा संसृति को,
जो झंझावातों में फँस भी
बदलेगा कभी न निज गति को;

जिसके "ना-ना" करने पर भी
मानवता पाँव पखारेगी,
गत हो जाने पर भी जिसको
ममता की गिरा पुकारेगी;

मुझको भय है, यदि एक बार
उसके दर्शन पा गई सृष्टि,
यदि मानवता की चितवन से
सचमुच उसकी मिल गई दृष्टि;

तो युगों-युगों तक युग-कविगण
भूलेंगे हम कलिकाओं को,
तुम भौंरों को, उन सुमनों को
द्रुम-पातों को, लतिकाओं को;

मूर्च्छित होंगे सब दीप-शलभ
श्रृंगार छुपेगा ओटों में,
मादकता - मदिरा - मदिरालय
सब ढह जाएँगे चोटों में;

सब साध्य न अब-से होंगे हम
होंगे तो केवल साधन ही,
आराध्य न अब-से होंगे हम
होंगे केवल आराधन ही;

बस एक उसी के गौरव का
यश-महिमा, प्रतिभा, ममता का,
संगीत सदा मुखरित होगा
उसकी प्रेरित जन-समता का;

साहित्य अलंकृत होगा, बस
उसके ही चिर आवाहन में,
कृतकृत्य कला सफला होगी
उसके ही चित्रण-गायन में !"

सहसा भौरा कह उठा, "किन्तु
अहि-दंशन तो अनुकूल हुआ ?"
कलिका बोली—"तुम पागल हो
वह और तीक्ष्णतम शूल हुआ !

प्रतिमा यदि वह स्वयमेव धरा
में धँस जाती या गल जाती,
अथवा अन्यान्यों के समान
यमजा ही उसको छल जाती !

तो सचमुच कुछ आश्वस्ता मैं
हो जाती, वह न अमर होगा,
विद्युत्-वाणी-सा चिर अक्षय
उसका दृढ़-प्रस्तर-स्वर होगा !

गत पुण्य-हीनता के कारण
जो शेष अपरिचित-से होंगे,
वे भी उसकी इस घटना से
सहसा चिर परिचित हो लेंगे;

भौंरे के माथे पर झलके
कुछ स्वेद-बिन्दु मुक्ताकण-से,
अथवा मर्मस्थल-बेधी ही
कुछ सूक्ष्म-सूक्ष्मतर लघु व्रण-से;

विह्वल बोला—"अब क्या होगा ?"
कलिका बोली—"बस धीर धरो,
यद्यपि यह संकट अपरिहार्य
पर मत नयनों में नीर भरो;

यदि आज नही तो कल-परसों
अथवा बरसों-पश्चात् कभी,
अपनी इस काली काया में
होगा ही सुखद प्रभात कभी;

जब इंगित-भ्रकुटि हमारी फिर
मानव को नाच नचायेगी,
जब चरम लक्ष्य ही मान हम
कविता कोयल-सी गाएगी;

अंधी मानवता होगी ही
पथ-भ्रष्ट कभी तो आशा है,
सच पूछो तो, नागिनि-सी ही
इस मानव की परिभाषा है;

यदि सत्य न होता यह तो फिर
क्यों बार-बार अवतार सदा,
गीता में अंकित कर जाते
क्यों कृष्ण श्लोक दो.....'यदा-यदा'.....!



अरे, आज ही तो धरती का जीवित दिनकर अस्त हुआ था !

सहसा ही रुँध गया नहीं स्वर, सहसा नहीं नयन भर आए !
अरे, आज ही तो धरती का जीवित दिनकर अस्त हुआ था ! !

१

नित्य उदित हो डूबा करता नभ का रवि अपने स्वभाव से,
कर देता क्षति-पूर्त्ति सुधाकर नभ न ग्रसित होता अभाव से;
पर भू का दुर्भाग्य कि डूबा, फिर न उगा, शायद न उगेगा,
और पूर्त्ति तो दूर कि दर्शन में भी उस-सा नहीं लगेगा !
वह था निज उपमान स्वयम् ही चरम पूर्णता का पूरक-सा,
जो संध्या के समय आज ही मूर्त्त राहु से ग्रस्त हुआ था;
अरे, आज ही तो धरती का जीवित दिनकर अस्त हुआ था !

२

इधर अँधेरे ने लुक-छिप कर किया सूर्य पर वार सँभल कर,
इधर प्रकाशस्तम्भ धरा का लुंठित-सा गिर पड़ा पिघल कर;
सांध्य-गगन के वक्षस्थल पर उधर लालिमा मचल पड़ी -सी,
इधर रक्त की धार देवता की छाती से निकल पड़ी-सी !
भावुकतावश मूढ़ भले ही चाहे हम रोए हों उस क्षण,
पर सच तो यह अपना यश कुछ उस दिन और प्रशस्त हुआ था;
अरे, आज ही तो धरती का जीवित दिनकर अस्त हुआ था !

३

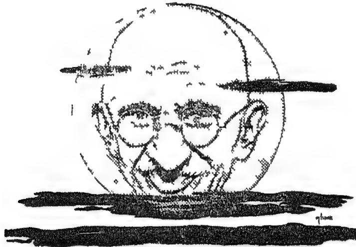
कोटि-कोटि प्राणोंको, मानो, अनायास ही प्रलय छल गया
बढ़ी वेदनानल अन्तः में, नयनों का जल-बिन्दु जल गया;
जो असीम भावुक थे, बस, वे पीछे-पीछे चले साथ ही,
और अभागे हम धरती पर खड़े रह गए उठे हाथ ही;
प्राची और प्रतीची, मानो, दोनों को डँस गया अँधेरा,
प्रत्याबाल-वृद्ध चेतन का तनमन अस्तव्यस्त हुआ था;
अरे, आज ही तो धरतीका जीवित दिनकर अस्त हुआ था !

४

वे मानवता-विहग-बाल के लिए नीड़-से प्राण लिए थे,
और साथ ही बधिक-दृष्टि के लिए मृदुल पाषाण लिए थे;
उनकी ममता के अंचल में युग का शाप शरण पाता था,
उनसे आँख मिला कर अशुभम् स्वयं क्षुब्ध शरमा जाता था,
अतिशयोक्ति के लांछन से कुछ होता हूँ संकुचित नहीं तो
सच तो यह है, उन्हें भेज कर ईश्वर भी आश्वस्त हुआ था,
अरे, आज ही तो धरती का जीवित दिनकर अस्त हुआ था !

५

वे जब-जब हँस पड़े, धरा पर स्वर्ग स्वयं साकार हो गया,
वे जब-जब रो पड़े, धरा पर रौरव का अधिकार हो गया;
उनका मौन नहीं उनतक ही, निखिल जगत पर छा जाता था,
उनका बोल नहीं उनका ही, युग-जीवन स्वर पा जाता था,
उनमें और विधाता में, बस, था केवल इतना ही अन्तर—
वह अनेक में एक कि उन में विम्बित जगत समस्त हुआ था,
अरे, आज ही तो धरती का जीवित दिनकर अस्त हुआ था !



एक दीप के बिना आज दीपावलि सूनी !

कोटि-कोटि वारिधि होते हैं—सरिता-सागर,
निर्झर, कूप, तड़ाग—कोटिशः जल के आगर;
किन्तु अभागे चातक को क्या ? वह प्यासा ही,
एक स्वाँति का बिन्दु-मात्र उसकी आशा ही;

× × ×

कोटि चिह्न प्रतिदिन इस जग-जीवन के पथ पर,
कोई अश्वारोही, कोई बैठा रथ पर;
किन्तु प्रतीक्षा-पथराई पथ की चिर चितवन
होती है कब शान्त कभी पा उनके दर्शन ?
वह तो राह देखती ही उन दो चरणों की,
जो प्रसिद्ध कर जाते गाथा अवतरणों की;

× × ×

कोटि युग-पुरुष हुए, आज हैं, सदा रहेंगे,
पर जीवन तो बाढ़ कि जिसमें सभी बहेंगे;
युग्म—जनता तो उसका ही स्वागत करती है,
जिसकी ममता मानवता के व्रण भरती है;

× × ×

बापू ! तुम तो गए वहाँ—उस पुण्य-लोक में,
जहाँ सदा विहँसन ही मिलती सजल शोक में;
किन्तु यहाँ तुम बिन करुणा हो गई अनाथा,
भीख माँगती वह जिस-तिस से रखकर माथा;
माना, आज निशा ने निज अवगुंठन खींचा,
अनगिन दीपों के प्रकाश से निज मुख सींचा;
कोटि-कोटि तारे ही मानो भूमि-जटित-से,
या विद्युत्-संघर्षण ही बहु हुए घटित-से;
फिर भी जाने कौन अँधेरा इन प्राणों में,
जो न प्रभावित होता निज तानों-बानों में;
विस्मित-सा कवि देख रहा नीचे ऊपर को,
कभी धरा की ज्योति, कभी नभ-से तमधर को;

—एक इन्दु के बिना वहाँ तारावलि सूनी,
एक दीप के बिना यहाँ दीपावलि सूनी !



स्वर्गोल्लास

स्वर्गाकाश के आँगन में
अनगिनत शहीद कुछ-कुछ म्लान-से नक्षत्रों—
की भाँति टिम-टिम-टिम-टिम प्रकाशित हो
रहे थे कि सहसा...
सर्वत्र

हलचल, सर्वत्र कोलाहल !
कोई किसी की नहीं सुन रहा था—
सभी सजिज्ञासा ! सभी सरव !!
किन्तु सभी आश्चर्य की स्थिति में—
द्विविधा की नाव पर ! —चिन्तातुर,
हर्ष मनाया जाय या विषाद ?
और तभी एक वृद्ध-से
नक्षत्र ने ऊँचाई पर चढ़, शेष को
सम्बोधित कर कहा—
"पागल हुए हो क्या ?
शोक करेगा मर्त्यलोक कि हम ? हम, कि जिनकी
जन्म-जन्मान्तरों की साधना आज सफल हुई है !
चिर प्रतीक्षा में पथराई जिनकी प्यासी
थकिता आँखों ने आज विश्रामार्द्र
किरण के दर्शन किए हैं !! जिनकी
आशा को आज विश्वास की तूलिका
ने मूर्त्त रूप दिया है !!!...
कोलाहल समाप्त करो,

और मेरी उँगली के संकेत की दिशा में
स्वदृष्टि केन्द्रित कर एकाग्रचित्त
देखो—वहाँ, दूर —बहुत दूर !
दिखाई दिया कुछ ? पहचाना ?"
—और न जाने

क्यों, एक टक देखते हुए नक्षत्रों
के अप्रभ आनन पर विचित्र
प्रफुल्लता—सी हँसने लगी ! चरणों
में उल्लास के नूपुर बजने लगे
और सभी एकस्वर किलक उठे —
"नवागत देवता की जय !"

× × ×

चन्द्रमा की काली छाया क्रमशः मूर्त्ति
में परिणत होती गई !....
और फिर धीरे-धीरे तो स्पष्टतर,
स्पष्टतम ही...
—दोनों हाथ

जोड़े, साँवले अधरों पर नव विकसित
कलिहास भार को सँभाले, अपने
तेज, अपनी प्रभा से चन्द्र-मंडल को
और भी समुज्ज्वल करते
धरती के बापू मन्द-मन्द मुस्करा
रहे थे... और
एक बार फिर गगन

मंडल के ओर-छोर गूँज उठे——
"नवागत देवता की जय"
और अब जब कभी 'श्रद्धा-कामायनी' की
उँगली पकड़ मनु-पूत 'मानव' कुतूहल-
प्रेरित अपनी माँ से पूछता है——
'माँ ! क्या सचमुच ही

उस दिन से तारागण की ज्योति कुछ
गुणित हो गई है ?"....तो 'श्रद्धा',
लोग कहते हैं, मुस्करा कर सिर हिला
देती है ।







हमारे सांस्कृतिक प्रकाशन

[हिन्दी ग्रन्थ]

१.	मुक्तिदूत [पौराणिक रोमांस]—श्री० वीरेन्द्रकुमार एम० ए०	५)
२.	पथचिह्न [स्मृति रेखाएँ] श्री० शान्तिप्रिय द्विवेदी	२)
३.	शेर-ओ-शायरी—श्री० अयोध्याप्रसाद गोयलीय	८)
४.	मिलन यामिनी [गीत] कविवर बच्चन	४)
५.	वैदिक साहित्य—पं० रामगोविन्द त्रिवेदी	६)
६.	पंच-प्रदीप [गीत]—शान्ति एम० ए०	२)
७.	भारतीय विचारधारा—श्री० मधुकर	२)
८.	दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ—डा० जगदीशचन्द्र एम० ए०	३)
९.	आधुनिक जैन कवि—श्रीमती रमा जैन	३॥)
१०.	जैन शासन—पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर	३)
११.	हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—श्री० कामताप्रसाद जैन	२॥≈)
१२.	कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न—श्री० गोपालदास पटेल	२)

[संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थ]

१३.	मदन पराजय	८)
१४.	कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रंथ सूची	१३)
१५.	न्यायविनिश्चयविवरण [प्रथम भाग]	१५)
१६.	तत्त्वार्थवृत्ति [हिन्दीसार सहित]	१६)
१७.	सभाष्य रत्नमंजूषा [छन्दशास्त्र]	२)
१८.	नाममाला सभाष्य	३॥)
१९.	केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि (ज्योतिष ग्रंथ)	४)
२०.	महाबंध (महाधवल) प्रथम भाग	१२)
२१.	करलक्खण (सामुद्रिक शास्त्र)	१)

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

[जनवरी १९५१ में प्रकाशित : हमारे दो नये प्रकाशन]

भारतीय विचारधारा

श्री मधुकर

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने भारतीय दर्शन को ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकोण से उपस्थित करके सर्वसाधारण के लिए सुगम बना सकने का सराहनीय कार्य किया है। वेद, उपनिषद्, चार्वाक्, गीता, जैन और बौद्ध विचारधाराएँ, न्यायवैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा और वेदान्त के सभी दार्शनिक अंगों की सांगोपांग वैज्ञानिक विवेचना की गई है। ईसा से डेढ़ हज़ार वर्ष पूर्व और पश्चात् की भारतीय संस्कृति को इतने मौलिक और स्वाभाविक रूप में पूर्णता के साथ कम से कम स्थान में रख सकने का शायद समस्त भारतीय भाषाओंमें यह पहला सफल प्रयास है। पादटिप्पणी में दिए गए मूल संस्कृत उद्धरणों से पुस्तक की उपादेयता और भी बढ़ गई है। अपनी ओजपूर्ण शैली से लेखक ने दर्शन जैसे दुरूह और नीरस विषय को भी इतना सरस और सजीव बना दिया है। भारतीय संस्कृति को स्वस्थ दृष्टिकोण से समझने के लिए यह पुस्तक बहुत आवश्यक है। **मूल्य दो रुपए**

पंच-प्रदीप

श्री शान्ति एम० ए०

"श्री शान्ति एम० ए० का 'पंच-प्रदीप' अपने सहज आलोक से काव्य में एक नई दिशा का संकेत करता है। गम्भीर भावों की अभिव्यक्ति सरलतम चित्रों और अनुभूति की रेखाओं में स्पष्ट करने की अद्भुत क्षमता कवयित्री में है। आशा-निराशा, सुख-दुख, विश्वास और क्रान्ति की भावनाएँ अपने स्वाभाविक आवेग में चित्रित हैं।"

—रामकुमार वर्मा

'पंच-प्रदीप' शान्तिजी की यह छठी काव्य पुस्तक है, गीतोंभरी। भावों की यह पंचारती उन्होंने अपने हृदय के स्नेह और तेज से प्रस्तुत की है। हिन्दी की काव्य-शारदा के मंदिर में यह भेंट बहुत प्रभापूर्ण और नवालोकमयी है। शान्तिजी की 'निष्कृति' और 'रेखा' के बाद यह पंच-प्रदीप उनके उत्तरोत्तर काव्यगुण-विकास का द्योतक है"।

—प्रभाकर माचवे

मूल्य दो रुपये